रहेगी ज़मीन, रहेगा पानी

समकालीन हिंदी उपन्यास और पारिस्थितिकीय संकट

रोहिणी अग्रवाल

प्रकृति पर मनुष्य की विजय को लेकर ज़्यादा खुश होने की ज़रूरत नहीं, क्योंकि ऐसी हर जीत हमसे अपना बदला लेती है। पहली बार तो हमें वही परिणाम मिलता है जो हमने चाहा था, लेकिन दूसरी और तीसरी दफ़ा इसके अप्रत्याशित प्रभाव दिखायी पड़ते हैं जो पहली बार के प्रत्याशित प्रभाव का प्राय: निषेध कर देते हैं। इस तरह हर क़दम पर हमें यह चेतावनी मिलती है कि हम प्रकृति पर शासन नहीं करते, जैसे कोई विजेता विदेशी लोगों पर शासन करता है। हम प्रकृति पर इस तरह शासन नहीं कर सकते जैसे हम उसके बाहर खड़े हों, क्योंकि माउस, रक्त और मस्तिष्क सहित हम प्रकृति से जुड़े हुए हैं और उसी के बीच हमारा अस्तित्व है। प्रकृति पर हमारी उस्तादी का मतलब सिर्फ़ इतना है कि दूसरे प्राणियों के मुक़ाबले प्रकृति को जानने और उसके नियमों को सही ढंग से लागू करने की सामर्थ्य हममें ज़्यादा है। समय बीतने के साथ-साथ हमारा प्रकृति के इन नियमों के बारे में ज्ञान भी बढ़ता जाता है; और उसी के साथ प्रकृति के पारम्परिक स्वरूप में हस्तक्षेप करने के तात्कालिक और दूरगामी परिणामों के बारे में हमारी समझ भी बढ़ती जाती है। यह ज्ञान जितना आगे बढ़ेगा, उतना ही मनुष्य को प्रकृति के साथ अपनी अविभाज्यता का ज्ञान होगा। उसी के साथ मस्तिष्क और पदार्थ, मनुष्य और प्रकृति, चेतना और शरीर से संबंधित अंतर्विरोध की प्रकृतिविरोधी व्यर्थता का अहसास होगा।

— फ्रेडरिक एंगेल्स

विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास के साथ प्रकृति से बड़े पैमाने पर छेड़खानी
करने की पूँजीवादी प्रवृत्ति के दुष्परिणामों के प्रति चेताते हुए
अपनी रचना *डायलेक्टिक्स ऑफ़ नेचर* में[1]

---

[1] फ्रेडरिक एंगेल्स की रचना *डायलेक्टिक्स ऑफ़ नेचर* से उद्‌धृत, इस अंश का अनुवाद *समयांतर* (फरवरी, 2012) से.

विज्ञान, प्रौद्योगिकी और सूचना तकनीक के ज़रिये मनुष्य तेज़ी से लम्बी और ऊँची छलाँगें लगाते हुए लगातार दूरियाँ तय कर रहा है। उसी अनुपात में प्रकृति के साथ उसकी अ-प्राकृतिक मुठभेड़ जारी है जिसकी उपलब्धियों पर वह इतरा भी रहा है। लेकिन, उसे नहीं पता है कि उसकी वही उपलब्धियाँ वेश बदल कर विभीषिका और त्रासदी के रूप में कब उसके सामने आ जाएँगी। लेकिन न जानने का यह 'भोलापन' भोक्ता होने की त्रासद अनिवार्यता को नहीं मिटा सकता, क्योंकि बक़ौल मार्क्स प्रकृति कभी अकेले एक व्यक्ति का नहीं, बल्कि आर्थिक उत्पादन में मिल कर काम करने वाले मनुष्यों का सामना करती है। इसी तरह एक व्यक्ति भी 'प्रकृति का सामना नहीं करता, बल्कि समाज द्वारा संगठित रूप में उसका सामना करता है।'[2] इसलिए इसमें कोई दो राय नहीं कि प्रकृति तथा मनुष्य के बीच गहराता पारिस्थितिकीय संकट एक चिंतनीय मुद्दे के रूप में समूचे विश्व के सामने आ खड़ा हुआ है। ज़्यादा खेतिहर भूमि पाने की ललक में वनों की अंधाधुंध कटाई, नदियों की गति और दिशा में मनमाना परिवर्तन, मिट्टी में क्रमशः आती अनुर्वरता और उसे अधिक उपजाऊ बनाने की हड़बड़ी में रासायनिक खादों का बेशुमार प्रयोग, उद्योगीकरण और शहरीकरण, खनिज उत्खनन के नाम पर प्रकृति का ज़रूरत से ज़्यादा दोहन, पर्यावरण प्रदूषण, मौसम में परिवर्तन, समुद्र का अम्लीकरण, ओज़ोन परत का क्षय, जैव-विविधता का क्रमिक ह्रास— मनुष्य के सभ्य होते चले जाने का बर्बर इतिहास है। या यूँ कहें कि यह मनुष्य के एकांगी विकास का विकृत ग्राफ़ है जहाँ उसकी चिंताओं में सिर्फ़ उसका अपना 'होना' और दूसरों के अस्तित्व की क़ीमत पर अपनी ऐषणाओं की पूर्ति का हठ है। लेकिन 'होना' (बीइंग/अस्तित्व) क्या इतनी निरपेक्ष अवधारणा है जबकि समूची सृष्टि सापेक्षता के सिद्धांत और संबंध में बँधी हुई है? सृष्टि की संरचना ही कुछ ऐसी है कि इसका प्रत्येक अणु स्वायत्त होते हुए भी अपने अस्तित्व-रक्षण के लिए दूसरे के अस्तित्व की अनिवार्यता से जुड़ा हुआ है। उदाहरण के लिए 'फूड वेब' को लिया जा सकता है। जहाँ कहीं एक भी कड़ी टूटी या ढीली पड़ी, वहीं प्राकृतिक कोप चेतावनी बन कर मनुष्य की निरंकुश वृत्ति पर चोट करने लगता है। पारिस्थितिकीय विमर्श दरअसल प्रकृति की इन्हीं चेतावनियों को सुन कर मनुष्य द्वारा अपनी ग़लतियों को सुधारने, लाभ और लोभ की गोद में पली बेलगाम लालसाओं को 'सिधाने'; और प्रकृति के साथ सामंजस्यपूर्ण समन्वयात्मक संबंध स्थापित करने की चेतना का नाम है। प्रकृति यानी मनुष्य की कार्यस्थली मात्र नहीं बल्कि जीवनीशक्ति भी; और जीवनरूपी प्रयोगशाला की सबसे भरोसेमंद सहायक और गुरु भी। यहाँ अपने अस्तित्व को बचाने का अर्थ बन जाता है दूसरे के अस्तित्व की रक्षा की जद्दोजहद जिसे हज़रत नूह की नाव के मिथक[3] में पूर्ण व्यंजना के साथ समझा जा सकता है।

साहित्य चूँकि समय और समाज के साथ चलते हुए उन्नत भविष्य के सृजन का दूसरा नाम है, अतः जीवन और जगत की कोई समस्या/विडंबना उसकी परिधि से बाहर नहीं। दरअसल, ब्रह्मांड में जो कुछ भी मौजूद है वह उसकी संवेदना, चिंता और चिंतन का विषय है, और प्रकारांतर से साहित्य का भी। ज़ाहिर है साहित्य लेखक का वाग्विलास नहीं है, और न ही उसके निजी अनुभवों का सीमित दर्पण। चुनौतियों से मुठभेड़ करते हुए साहित्यकार अपने अनुभव परिधि से बाहर पड़ने वाले प्रत्येक सरोकार को भी चिंता का विषय बना लेना चाहता है। इसके लिए अनिवार्य औज़ार भी वह साहित्येतर ज्ञान-विज्ञान के विषयों से जुटाता है— शोध, साक्षात्कार, विश्लेषण, परीक्षण। लेकिन

---

[2] नरेश कुमार, *समयांतर* (फरवरी 2012): 27.

[3] ओल्ड टेस्टामेंट की कथा जहाँ प्रलय की भविष्यवाणी सुनने के बाद सृष्टि की रक्षा के लिए हज़रत नूह अपनी नाव पर समूचे वनस्पति जगत और प्राणिजगत के नर-मादा युग्म को लेकर नाव के भीतर सुरक्षित दुनिया बसाते हैं, और फिर स्थिति सामान्य होने पर एक बार फिर प्रकृति को उसके पूरे वैभव के साथ लहलहा देते हैं.

फिर भी साहित्यकार और समाज-विज्ञानी के बुनियादी एप्रोच में फ़र्क़ है। सोद्देश्यता दोनों की विचार-प्रक्रिया का प्रस्थान बिंदु है, किंतु साहित्यिक रचनाओं के संदर्भ में कल्पना की उन्मुक्त उड़ान में आने वाला दुर्भाग्यपूर्ण घटक भी है। कल्पना वैचारिक गहनता और संश्लिष्ट संवेदनात्मकता के साथ रच-बस कर जिस अंतर्दृष्टि की रचना करती है, वह फ़ैक्ट को फ़िक्शन और कला को लार्जर दैन लाइफ़ बनाने में सहायक होती है। यही वह सूक्ष्म विभाजक रेखा है, जो तर्क-तथ्यसम्मत वैज्ञानिक अध्ययन को कालातीत दर्शन की उदात्त ऊँचाइयों में तब्दील कर देती है। लेकिन साथ ही यह भी तय है कि अंतर्दृष्टि की न्यूनता उपन्यास को सर्जनात्मक कृति का रूप न देकर कच्चे माल की पुड़िया या अख़बार की कतरन में विघटित कर देती है। साहित्यकार समाज-विज्ञानी की तरह वर्तमान की ज़मीन पर खड़े होकर वर्तमान की विभीषिकाओं से जूझने के लिए एक वैचारिक आंदोलन की शुरुआत ही नहीं करता, समस्या के भीतर छिपी सर्जनात्मक सम्भावनाओं को संकेतित करते हुए भविष्य को बुनने की ज़िम्मेदारी भी पाठक को देता है। वह पाठकों और घटनाक्रमों में बँट कर अपने युग के द्वंद्वों और टकराहटों को अपने कथा साहित्य में गूँथता अवश्य है, किंतु अपनी एक सुनिश्चित दृष्टि/स्टैण्ड के साथ पाठक— एक व्यक्तिगत इकाई— के साथ कुछ साझा भी कर डालना चाहता है— अपने सपने, संकोच, दुविधाएँ, असफलताएँ, संघर्ष और प्राथमिकताएँ। लेखक से संवाद करते हुए पाठक पाता है कि वह एक इकाई भर नहीं रह गया है। उसके भीतर की अकुलाहट पहले की तरह सवाल बन कर उसे किंकर्त्तव्यविमूढ़ नहीं कर रही है, बल्कि उसकी दृष्टि को साफ़ और बोध को पैना करते हुए उससे कर्मठता और सक्रियता की माँग कर रही है। आत्म-संज्ञान का यह बिंदु अतिक्रमण और उदात्तीकरण की जिस पीठिका की निर्मिति करता है, वही लेखक-पाठक संबंध को परिभाषित करते हुए रचना की गुणवत्ता का निर्धारण भी करता है। मनुष्य चूँकि हर प्रतिकूलता में भी आस की डोरी थामकर संघर्षरत रहते हुए जिजीविषा को आदिम पहचान का पर्याय बनाये रखता है, इसलिए साहित्य अंधी गली में ठिठकने का आभास देते हुए भी निष्कृति के वैकल्पिक मार्गों का संकेत अवश्य करते चलता है। ज़ाहिर है अध्ययन के लिए चयनित चारों उपन्यासों को अंतर्वस्तु की दृष्टि से विश्लेषित करने के साथ-साथ एक साहित्यालोचक की दृष्टि से उनकी सृजनात्मक सम्भावनाओं को भी तोला गया है, जिन्हें मोटे तौर पर जिजीविषा, संघर्ष और आस्था में अनूदित किया जा सकता है। कहना न होगा कि इस प्रक्रिया में सटीक तथ्यपरकता की अपेक्षा मानस को आंदोलित करने वाली प्रभावात्मकता को मूल्यांकन का प्रतिमान बनाया गया है। पारिस्थितिकीय संकट को लेकर पिछले डेढ़ दशक में लिखे गये जिन चार महत्त्वपूर्ण उपन्यासों पर प्रस्तुत आलेख में विचार किया गया है, वे हैं— महुआ माजी कीरचना *मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ,* संजीव की रचना *रह गयीं दिशाएँ इस पार,* अलका सरावगी की रचना *एक ब्रेक के बाद* तथा मृदुला गर्ग की रचना *कठगुलाब*।

I

'अब इस इंसानी खोल से किस महामानवी खोल में, किस महाकाश में छलाँग लगाने और किस चाँद-सितारे को छू लेने का इरादा है मेरे दोस्त'[4] बनाम 'प्रकृति जीवों के बिना अमूर्त है। वह जगती है जीवों द्वारा और जीव जगते हैं चेतना से।'[5]

रह गईं दिशाएँ इसी पार संजीव का बहुत बड़े फलक का उपन्यास है। व्यक्ति के रूप में संजीव की अपनी प्रत्यक्ष चिंताएँ हैं और स्पष्ट धारणाएँ भी। इन्हीं के कारण वे जीव-वैज्ञानिकों द्वारा क्लोनिंग

---

[4] संजीव (2011), *रह गयी दिशाएँ इसी पार,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली : 169. (लेख के इस भाग में दी गयी पृष्ठ संख्या इसी उपन्यास से).

[5] संजीव (2011): 102.

और जेनेटिक्स के क्षेत्र में की जाने वाली अभूतपूर्व उपलब्धियों को मानवीय संबंधों के जटिल संसार में पनपने वाली विकृतियों की संज्ञा देते हैं। वैज्ञानिक अनुसंधानों द्वारा जीवन और मृत्यु, काम और प्रजनन, पदार्थ और अध्यात्म की रहस्यमयी गुत्थियाँ सुलझा लेने की कोशिशें उन्हें शेख़चिल्ली के हवाई क़िले अधिक जान पड़ते हैं, क्योंकि गोपनीयता में ही प्रकृति और मनुष्य का आंतरिक सौंदर्य प्रगाढ़तर होकर खिलता है। संजीव गम्भीर शोधार्थी हैं, और घोर यथार्थवादी भी। वे सौंदर्यान्वेषी रोमांटिक कवि भी हैं, और आदर्श की स्थापना के लिए मनुष्य और प्रकृति के बीच अंत:सूत्रों की तलाश और व्याख्या करने वाले दार्शनिक भी। चिंतन की इस पूरी प्रक्रिया के दौरान मानवीय विडम्बनाओं और प्रतिकूलताओं से टकराते हुए वे अनास्था या नकारात्मकता के किसी भी बिंदु पर विघटित नहीं होते क्योंकि जीवन के प्रति आस्था और जिजीविषा उनके भीतर की सकारात्मकताओं को सतत जिलाये रखती है। लेकिन ऊपरी तौर पर वे बेहद व्यथित दीखते हैं और क्षुब्ध भी, मानो दसों दिशाएँ सर्वहारा होकर मनुष्य को लील लेने को आतुर हैं। इसलिए उनकी प्रत्येक रचना का प्रस्थान-बिंदु बनता है यही एक सवाल कि अपनी ही विकृतियों और दुर्बलताओं से निरंतर क्षरित होता मनुष्य क्या नष्ट होने के लिए अभिशप्त है? क्या मृत्यु ही उसकी जीवन-यात्रा का अंतिम पड़ाव है? ज़ाहिर है इसीलिए *रह गईं दिशाएँ इसी पार* में संजीव जिस पात्र— अतुल बिजारिया उर्फ़ जिम— को अपना प्रवक्ता बनाते हैं, वह कोई सामान्य व्यक्ति नहीं, टेस्ट ट्यूब बेबी है। अपने जन्म से जुड़े रहस्यों को पहले-पहल उसने किस रूप में लिया होगा, उपन्यास नहीं बताता, लेकिन अब एक बीस-वर्षीय युवक के तौर पर वह जिस उन्मादपूर्ण एकाग्रता के साथ वैज्ञानिक प्रयोगों में लगा हुआ है, और कृत्रिम गर्भाधान से जुड़ी तमाम खोजों को सम्पन्न करा कर प्रकृति के विरुद्ध वैज्ञानिक प्रयोगशाला में प्रजनन पर निरंकुश सत्ता स्थापित कर लेना चाहता है, वह उसे जिज्ञासु वैज्ञानिक/शोधार्थी की अपेक्षा मनोरोगी अधिक बनाती है। अनास्था, नि:संगता, अजनबीपन जिम की परिचालक शक्तियाँ हैं और विचित्रता उसका परिचय जो जिम के निजी म्यूज़ियम के प्रतीकार्थ में कथा में स्पष्टतर होता चलता है। दरअसल जिम का लक्ष्य है विश्वामित्र की तरह एक समानांतर प्रतिसंसार की रचना करना। इसलिए म्यूज़ियम उसकी कार्यस्थली है और उसके मस्तिष्क का अक्स भी। यहाँ सुकुमार राय द्वारा बनाये गये विचित्र चित्रों की मृण्मयी अनुकृतियाँ हैं जिनमें प्रमुख हैं— मछली की देह पर हाथी का मस्तक, मुर्गे का धड़ और बैल का मुंड, मच्छर पर चस्पाँ जिराफ़ की गर्दन। यहाँ भेड़ की क्लोनिंग कन्या डाली अपने पूरे संदर्भों के साथ विराजमान है तो 1952 में प्रथम लिंग परिवर्तन करने वाले जार्ज जोगन्सन और उनका स्त्री-रूपांतरण क्रिस्टी भी; संकर नस्लें और उभयलिंगी प्राणी हैं तो टिश्यू कल्चर से उपजाये गये फल भी। शिव-पार्वती का अर्धनारीश्वर रूप है तो मत्स्य कन्याएँ और परियाँ भी। और हैं कार्बन चेन्स, गुणसूत्रों की सीढ़ियाँ उतरते इंसान के आदिम पुरखे, बिग बैंग, ब्लैक होल्स, आकाश-गंगाएँ, धूमकेतु, सूर्य से निकलती ज्वालामयी पृथ्वी और अन्य ग्रह। सृष्टि के विकास क्रम को जानने की अदम्य इच्छा से कहीं ज़्यादा बड़ी है सृष्टि के विकासक्रम की धारा को मोड़ कर अपनी मुट्ठी में बाँधने की लालसा। इसलिए जिम एक बार नहीं, दो बार प्रकृति को चुनौती देता है। लारा के पिता का क्लोन बनाने के लिए लारा के गर्भाशय का उपयोग; और शाहनवाज़ का लिंग-परिवर्तन। इस बिंदु पर आकर संजीव के लिए लेखकीय तटस्थता बनाये रखना दुष्कर हो जाता है। वे तुरंत कथा में हस्तक्षेप करते हैं, कभी नैतिकवादियों की आर्त्त पुकार[6] बन कर तो कभी क्लोनिंग की पूरी प्रक्रिया को उपहास का पात्र बना कर।[7]

---

[6] क्षोभ और असहमति को व्यंग्य की तीखी धार बना कर संजीव जिस शब्दावली का प्रयोग करते हैं, वह देखते ही बनती है. पिता का क्लोन बनाने के लिए पिता के स्टेम सेल को अपने गर्भाशय में प्रत्यारोपित कर क्रांति कर देने के अतींद्रिय उत्साह से भरी लारा के पास अपने कृत्य के जस्टीफिकेशन के लिए भावनात्मक तर्क हैं— आप दुर्लभ नस्ल की प्रजातियों को बचाने के लिए ख़ासा परेशान रहते हैं. अगर मैं अपने ईमानदार पिता की नस्ल को बचाना चाहती हूँ तो कौन सा गुनाह कर रही

संजीव सीधे-सीधे क्लोनिंग की व्यर्थता को लेकर डिबेट का आयोजन नहीं करते, बल्कि नवउदारतावादी अर्थव्यवस्था के धन-कुबेरों की ययाति-ग्रंथि के बरक्स इसकी वैधता का परीक्षण करते हैं जिसे उपभोक्तावादी संस्कृति के प्रभावों और दबावों ने नये मूल्य के रूप में विकसित किया है। ययाति-ग्रंथि यानी अजरत्व की कामना! यानी काल के प्रवाह को थाम कर चिर युवा बने रहने की अभीप्सा! क्लोनिंग यदि इसका एकमात्र विकल्प है और तीसरी दुनिया की ग़रीबी के चलते ह्यूमन क्लोनिंग के प्रयोगों हेतु इंसानों को उपलब्ध कराना और ह्यूमन क्लोन को गर्भ में प्रत्यारोपित करना ज़रा भी कठिन कार्य नहीं तो क्या सिर्फ़ इसीलिए इसे सही ठहरा दिया जाए? नहीं, विशाल— जेनेटिक्स पर शोध कर रहे वैज्ञानिक— की भूमिका में उतर कर संजीव बेहद द्वंद्वग्रस्त हो उठे हैं। वैज्ञानिक शोध यदि आर्थिक संरक्षण देने वाले धन-कुबेरों के निहित स्वार्थों की पूर्ति का ज़रिया बन गया तो? एक अहम सवाल! विशाल की भूमिका से उबर कर संजीव पुन: सर्जक बन जाते हैं और रचते हैं विस्नू बिजारिया की विकृत लालसाओं का संसार जहाँ अपने ही संसाधनों से चलाए जा रहे अनाथालय और स्कूल के सभी बच्चों को उसने 'अस्तित्व अनुसंधानशाला' के गिनी पिग में बदल डाला है। अपनी तिक्त असहमति दर्ज कर संजीव

संजीव सीधे-सीधे क्लोनिंग की व्यर्थता को लेकर डिबेट का आयोजन नहीं करते, बल्कि नवउदारतावादी अर्थव्यवस्था के धन-कुबेरों की ययाति-ग्रंथि के बरक्स इसकी वैधता का परीक्षण करते हैं जिसे उपभोक्तावादी संस्कृति के प्रभावों और दबावों ने नये मूल्य के रूप में विकसित किया है। ययाति-ग्रंथि यानी अजरत्व की कामना! यानी काल के प्रवाह को थाम कर चिर युवा बने रहने की अभीप्सा!

हूँ. मुझे न धर्म की परवाह है, न नैतिकता की. मुझे इस बात का गर्व है कि मैं पिता जैसी दुर्लभ होती जा रही प्रजाति को बचाने का माध्यम बन रही हूँ. (पृ. 138). असहमति में सिर हिलाते संजीव लारा से कहीं ज़्यादा भावुक हैं. इसलिए उनके पास तर्क नहीं है यह सिद्ध करने का कि सभ्यता का कुटिल दुष्चक्र शुरू से ही ईमानदार निष्ठाओं को कुचलता रहा है, लेकिन इसके बावजूद ईमानदार कर्त्तव्यपरायण मनुष्य प्रजाति लुप्त नहीं हुई है; कि सत् और असत् का द्वंद्वात्मक संबंध ही सृष्टि की निरंतरता की कुंजी है. दूसरे, वे प्रति-तर्क भी नहीं करते कि पिता का क्लोन बना लेने से ही क्या गारंटी है वह लुप्तप्राय प्रजाति पुन: व्यवस्था के दमन-चक्र का शिकार नहीं होगी? इसके विपरीत वे लारा के परिवार की हाय-हाय में अपना सुर मिला कर संबंधों और नैतिकता की दुहाई देने लगते हैं— तुम्हारा यह क़दम घोर अनैतिक और अधार्मिक है. (पृ. 138); कि बाप रे! रिश्तों का क्या होगा? प्रलय आ जाएगा प्रलय! (पृ. 128) करुणा और हताशा का नर्तन! शाहनवाज़ उर्फ़ शहनाज़ के संदर्भ में संजीव अपनी नि:संगता किंचित बचा पाये हैं लेकिन शायद इसलिए कि शहनाज़ को उन्होंने मूलत: त्रिशंकु के रूप में कंसीव किया है। इसलिए लिंग-परिवर्तन करा कर स्त्री बनने के बाद उसके विकास-क्रम को दर्शाने हेतु जिन घटनाओं का संयोजन किया गया है, वे उसे निजी तौर पर मीडिया की हाइप पर जीती स्टार सैक्स-वर्कर के रूप में रिड्यूस कर देती हैं. और वैज्ञानिक उपलब्धियों के तौर पर एक नॉक आउट चूहा-भर बना देती हैं. उल्लेखनीय है कि इन दोनों प्रकरणों में विज्ञान ने मनुष्य की गरिमा का ही नहीं, उसके अस्तित्व का भी क्षरण किया है.

[7] 'इनैक्ट क्लोनिंग कर क्या रहा है— अलैंगिक प्रजनन... . मेरे जैसे बोका मनुष्य के बचे खुचे आनंद को काहे के लिए छीन रहे हो?' संजीव (2011) : 129.

एक बार फिर वैज्ञानिक विशाल बन कर अपने जुनून— जेनेटिक्स— में डूब जाना चाहते हैं, लेकिन असमय बुढ़ा गयी रोग जर्जर डाली (पहला क्लोन) प्रयोग की विफलता के दंश से ज़्यादा एक अनुत्तरित सवाल बन कर सामने खड़ी हो गयी है कि 'क्या हमने अपने प्रयोगों से क्लोनों की उम्र को समय की तेज़ी से नहीं भर दिया है?... हम अगर इसे न रोक पाये तो प्रयोगों की क्या सार्थकता रही (पृ. 119)?' तब जुनून और यथार्थबोध गलबहियाँ डाल कर ही सामने नहीं आते, बल्कि एकमेक होकर धुएँ में विलीन हो जाते हैं— व्यर्थता का तीखा कड़वा अहसास! ज़िंदगी मानो उबाऊ आवृत्तियों को दोहराते चले जाने की यांत्रिकता! न नये का रोमांच! न अज्ञात को एक्सप्लोर करने का आनंद! स्पष्टता और ज्ञान का अतिरेक क्या एक सीमा के बाद वीरानगियों और निरर्थकता की सृष्टि करने लगता है? या यह नग्न कर दी गयी प्रकृति का अपनी शर्म ढाँपने के लिए किया गया प्रतिकार है? 'क्या होगा वह दिन जब हर इंसान डी.एन.ए.कार्ड लटका कर चला करेगा, परिचय-पत्र की तरह जो बतायेगा कि वह किस रोग का सम्भावित शिकार है, उसका आई क्यू क्या है... वह फलाँ-फलाँ कार्य के लिए योग्य है और फलाँ-फलाँ कार्य के लिए अयोग्य। नंगा हो जाएगा पूरी तरह से, नंगा और एक्सपोज़्ड! उसे डर लगेगा, ग़ैरों से भी और ख़ुद से भी। ... भारी अराजकता छा जाएगी (पृ. 81)।' और फिर डर कर अपने आप से ही सुझावनुमा सवाल— 'क्यों न जींस के बदले डेस्टिनी पर ही सोचूँ?' द्वंद्व! और द्वंद्व! निर्जनता का निष्क्रिय पोषक नहीं, आत्मसाक्षात्कार और आत्मपरिष्कार की प्रक्रिया का प्रथम चरण!

'सत्य को धुँधला ही रहने देना चाहिए'— संजीव एक धर्मोपदेशक की तरह अपनी मान्यता उकेरते हैं और पीटर[8] तथा घरघुसरा[9] के उदाहरणों के ज़रिये प्रकृति के प्रतिरोध को दर्ज करते हैं। लेकिन उनका प्रवक्ता जिम तो सत्य को अनावृत्त करते चलने का हठ पाले हुए है। माँ की मृत्यु के बाद उसने निजी म्यूज़ियम में काँच के जार में सहेज कर रखा है माँ का गर्भाशय और फेलोपियन ट्यूब। इससे पहले काँच के ऐसे ही एक और जार में सहेज लिया है एबार्शन के बाद नौवें महीने के पूर्ण विकसित भ्रूण का मांस पिंड, और उस पर चस्पाँ कर दिया है एक लेबल— बालभोग। क्या यह जिम के भीतर सुरसुराती पैशाचिक प्रवृत्ति है? पूर्ववर्ती उपन्यासों में अपने नायकों के प्रति एक रोमान भरा अनुराग महसूसने वाले संजीव यहाँ जिम के प्रति ख़ासे निष्ठुर हैं। अलबत्ता कई-कई बार अजय के रूप में स्वयं को प्रतिस्थापित कर एक ऐसी बहस का आग़ाज़ करते हैं कि जिम अपनी तमाम विकृतियों के साथ पाठकीय वितृष्णा का शिकार बन सके। वे भरसक प्रयास करते हैं कि जिम की

---

[8] पीटर 'सिंथेटिक ह्यूमन' है। उसकी माँ ने वीर्य बैंक से वीर्य लेकर कृत्रिम गर्भाधान के सहारे उसे जन्म दिया है. दस वर्ष की अवस्था में माँ की मृत्यु के साथ उसने संबंध ही नहीं खोया, जीवन के प्रति आस्था और अनुराग, दोनों को खो दिया है. अब भटकते प्रेत की तरह वह निरंतर अपने अनदेखे पिता को ढूँढ़ रहा है, एक मारक कसक और कचोटते सवाल के साथ कि उसने मुझे जन्म क्यों दिया? माना कि स्पर्म बैंक में स्पर्म देकर वह निवृत्त हो गया, जैसे पेशाब-पाखाना किया, फ्लश किया, निवृत्त हो गये. (पृ. 163) लेकिन क्या प्रजनन एक बायलॉजिकल परिघटना मात्र है? वह एक सामाजिक ज़िम्मेदारी, सांस्कृतिक मूल्य और मानवीय संबंधों का आदि-स्रोत नहीं जहाँ संतान के साथ-साथ पलती है आत्मीयता, विश्वास, सद्भाव और सौहार्द की धरोहर? प्रजनन से ज़्यादा ज़रूरी और ज़िम्मेदारी भरा दायित्व क्या संतान का पालन-पोषण नहीं जो उसे एक संवेदनशील विवेकशील मनुष्य बना सके? विज्ञान यदि इस दायित्व का वहन नहीं कर सकता तो प्रकृति उसे अपना राज़दार क्यों बनाये?

[9] घरघुसरा विज्ञान की उपलब्धि और पराजय का अद्भुत उदाहरण है. हर आहट से डर कर घर के कोने-अंतरे में छुप जाने वाले उस लम्बे-चौड़े युवक की भय-ग्रंथि को जीतने के लिए डॉ. सिंह— हारमोंस स्पेशलिस्ट— घरघुसरा पर प्रयोग करते हैं. सफल प्रयोग! भय से मुक्ति! लेकिन इतनी निर्भीकता कि गरजता-उफनता समुद्र भी घरघुसरा को डरा नहीं पाया. परिणामस्वरूप लहरों को रौंदने की कोशिश में वह स्वयं जान से हाथ धो बैठा. एक सम्पूर्ण इंसान होने के लिए आदमी में डर, शर्म, चोरी, झूठ, ईर्ष्या, लोभ, द्वेष जैसे विकारों और कुंठाओं का होना भी ज़रूरी है माने सम्यक भय, सम्यक शर्म, सम्यक मिथ्या वग़ैरह-वग़ैरह. (पृ. 206) संजीव बलपूर्वक अपनी निष्पत्ति प्रस्तुत करते हैं कि जो प्राकृतिक है, उसका अ-प्राकृतिक दमन क्यों?

तथाकथित क्रांतिकारिता स्वेच्छाचारिता का रूप लेकर उभरे। मसलन विवाह संस्था को 'मुसीबत' और दम्पति को 'बाड़े में बंद गाय और साँड़' की संज्ञा देना; और रिश्तों-संवेदनाओं के परम्परागत ढाँचे और सोच से बाहर विकृत समझे जाने वाले रिश्तों-संवेदनाओं को सहानुभूतिपूर्वक देखने और उनका मानसिक अनुकूलन करने की ज़रूरत पर बल देना। ... ये ब्रह्मा-सरस्वती, यम-यमी, ईडीपस-उसकी मदर— एक तरह से देखिए तो अतिक्रमण हैं, दूसरी तरह से देखिए तो साधारण मामला। बस, ऊपरी अर्थ-क्रस्ट की तरह थोड़ी-सी संवेदनाओं की परत बिछा दी गयी है, वही रिश्ते हैं, भावनाएँ हैं, बाक़ी नीचे तो वही आदिम अनुर्वर पत्थर है और उसके नीचे पिघला हुआ लोहा (पृ. 221)।

लेकिन जिम अपने स्रष्टा के हाथ की कठपुतली बनने से इनकार कर देता है। जिस समय लेखक-पाठक-अजय सब उसे समवेत स्वर में 'मानसिक रोगी' घोषित कर चुके होते हैं, उसी समय आत्मोद्घाटन की प्रक्रिया से गुज़रता हुआ वह स्वयं को नायक के रूप में प्रकट करता है। नहीं, बड़बोली दावेदारी के साथ नहीं, एक सघन-संवेदनात्मक तरल दृष्टि के साथ संबंधों की जटिलताओं को समझने और बचाने की नैतिक ज़िम्मेदारी का बोध! तब जिम की नि:संगता संवेदनहीनता के पर्याय के रूप में नहीं, कमल के रूपक में उभर कर सामने आती है। निर्लिप्त और कर्मयोगी— यही है जिम। उसका म्यूज़ियम और तमाम वैज्ञानिक खोजें जीवन, विज्ञान और प्रकृति के अंत:संबंधों को जानने की कोशिशें बन जाती हैं। प्रवंचना से उपजे पीटर का क्षोभ जिम की भी निजी अनुभूति है, लेकिन यही उसका कुल परिचय और जीवन का सार नहीं। जिम ने धुरीहीन, जड़विहीन होने के अपने आक्रोश को थिरा लिया है। वह विज्ञान की उपज है, प्रकृति की नहीं, और जान लेना चाहता है कि विज्ञान 'सिंथेटिक इंसान' की इस नस्ल के पोषण के लिए कितनी दूर तक सहायक सिद्ध होगा। डाली की अकाल मृत्यु, लारा की हत्या, शाहनवाज़ की दुर्गति, पीटर की विक्षिप्तावस्था और विज्ञान की बैसाखियों पर चलता विस्नू बिजारिया— जिम जान गया है कि प्रकृति के साथ हर संघर्ष में विज्ञान औंधे मुँह गिरा है। अब संजीव और देर तक जिम से रूठे नहीं रहते। 'अरे'! मानो वे हर्षातिरेक से नाच उठे हैं। तब अपने क्रिएटिव डेस्क पर तेज़ी से रचनारत होकर वे जिस एक महत्त्वपूर्ण घटना की सृष्टि करते हैं, वह प्रकृति और विज्ञान को नायिका और खलनायक की भूमिका में उतार कर जिम के साथ-साथ लेखकीय दृष्टि को भी एक स्पष्ट दिशा देती है। जिम की माँ एलिस बदहाल अवस्था में घर में प्रविष्ट हुई हैं; जीवन और मृत्यु के बीच
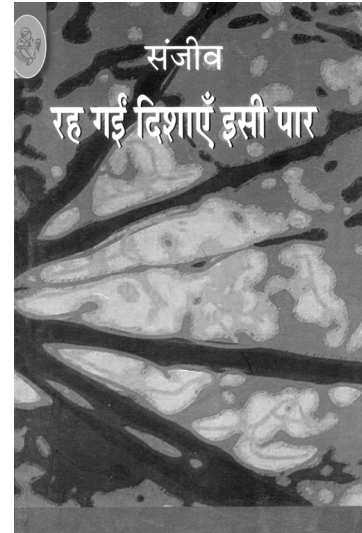
विज्ञान ने उसे मनुष्य की उत्पत्ति के रहस्य को शुष्क, भावहीन तथ्यों की भाषा में समझाया है लेकिन इस असंपृक्तता और भावहीनता का अतिक्रमण कर पूरी प्रकृति से जुड़ने की चेतना दर्शन ने दी है जो छिन्नमूल एकाकी मनुष्य पर विचार ही नहीं करता। दर्शन विचार करता है मनुष्य की अस्मिता पर— प्रकृति और प्राणिजगत के साथ, अमूर्त और अध्यात्म के साथ उसके संबंधों की छिपी सम्भावनाओं को एक्सप्लोर करते हुए, उन्हें उन्नत बनाते हुए।

जार में रखे नौवें माह के भ्रूण के मांस पिंड पर लगाये गये लेबल 'बाल भोग' का रहस्य भी अब खुला है उसके सामने जब समृद्धि, ग्लैमर और तेज़ रोशनियों के नीचे फल-फूल रहे यौनिकता उद्योग के नरक को अपनी आँखों से देखा है उसने। धर्मराज युधिष्ठिर की तरह जिम के साथ नरक की यात्रा का एक दिन उसके लिए ज़िंदगी का हैबतनाक अनुभव है।

झूलते हुए वह बताती है कि विस्नू के क्लोनों ने मिल कर उसका बलात्कार किया है। प्रकृतिरूपा माँ इस उत्पीड़न को ख़ामोश सहने को अभिशप्त है, लेकिन मातृरूपा प्रकृति क्या प्रतिशोध नहीं लेगी? ज़रूर! जिम का बोधिसत्व! ज़ाहिर है तब प्रकृति की उर्वरता बनाये रखने के लिए संबंधों को संवेदना के जल से सींचना होगा। लेकिन क्या सिंथेटिक मैन इस रहस्य को समझ पायेगा? उसका सम्मान करने का आत्मबल अपने भीतर सँजो पायेगा? ताक़त का प्रदर्शन दमन में नहीं, पोषण में करती है प्रकृति। तभी तो महीयसी है और अतुलनीय! इसलिए सबसे पहले 'सिंथेटिक मैन' को मारना होगा और फिर अपने अस्तित्व को सम्भव और सार्थक बनाने के लिए उत्तरदायी प्रत्येक पोषक वृत्ति के प्रति आभार ज्ञापन! यह अपने से इतर दूसरों के अस्तित्व की स्वीकृति है और उनके साथ स्वस्थ अंत:संबंध की शुरुआत भी। जिम की प्रयोगशाला में जिम के प्रयोग बेशक असफल हो गये हों, लेकिन संजीव ने जिम पर अपने प्रयोग को असफल नहीं होने दिया है। वे सिद्ध करते हैं कि वैज्ञानिक दृष्टि के साथ दार्शनिकता का संगुम्फन करके ही एक मुकम्मल इंसान गढ़ा जा सकता है। जिम उनके विश्वास का ठोस रूप है और सपनों का संवाहक भी। विज्ञान ने उसे मनुष्य की उत्पत्ति के रहस्य को शुष्क, भावहीन तथ्यों की भाषा में समझाया है लेकिन इस असंपृक्तता और भावहीनता का अतिक्रमण कर पूरी प्रकृति से जुड़ने की चेतना दर्शन ने दी है जो छिन्नमूल एकाकी मनुष्य पर विचार ही नहीं करता। दर्शन विचार करता है मनुष्य की अस्मिता पर— प्रकृति और प्राणिजगत के साथ, अमूर्त और अध्यात्म के साथ उसके संबंधों की छिपी सम्भावनाओं को एक्सप्लोर करते हुए, उन्हें उन्नत बनाते हुए। 'अपना डी.एन.ए. डिकोड करते-करते मैं पीछे, पीछे, और पीछे लौटते हुए दक्षिण अफ्रीका के उस मक़ाम से देखता हूँ जहाँ से यात्राएँ शुरू करते हैं हमारे पुरखे। चींटियों की क़तारों की शक़्ल में बनती लकीरें। नदियों, समंदरों, पहाड़ों, जंगलों, सहराओं, मैदानों तक फैलती लकीरें, फिर उन लकीरों को पकड़ कर उनके उत्स से भी पहले, जहाँ ब्रह्मांड ने विकसित होना शुरू किया, आकाशगंगाएँ छिटकनी शुरू हुईं। कितना हास्यास्पद है ख़ुद की वंश-गरिमा, जेंडर, जाति, उपजाति, सम्प्रदाय और क्षेत्रीयता का बखान! हम सब हैं तो वही... (पृ. 308)।'

जिम की चारित्रिक संरचना के ठीक विपरीत है अजय के चरित्र की परिकल्पना। जिम के चरित्र के मूल में यदि उसके जीवनानुभवों के साथ संवेदनात्मक वैचारिकता का

घात-प्रतिघात सक्रिय है, तो अजय पूरे उपन्यास में एक बार भी ऐसी कोई वैचारिक या भावनात्मक टकराहट नहीं झेलता। वह दरअसल पात्र नहीं उत्प्रेरक (केटेलिस्ट) है जिसका प्रयोगों के दौरान उपयोग किया जाना है। वह हवा की तरह निर्बाध है और ईश्वर की तरह सर्व-सर्वव्यापक। अतुल मेंशन में घटने वाली ऐसी कोई घटना नहीं जिसका प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष साक्षी अजय न हो। फिर भी अजय कर्त्ता नहीं। वह पर्यवेक्षक है और समन्वयक भी। इसलिए आज की स्थूल वैज्ञानिक उपलब्धियों के बरक्स भारतीय/यूरोपीय पौराणिक कथाओं या लोककथाओं का संदर्भ देकर वह हर संवेदनशील-मननशील मेधा को इस तथ्य पर विचार करने का निमंत्रण देता है कि ऐसी ही वैज्ञानिक सम्भावनाओं और सामर्थ्य से भरा अतीत क्यों किसी एक बिंदु पर विनष्ट होकर पुनः अथ/शून्य से विकास-यात्रा शुरू करने को बाध्य हुआ? क्या प्रगति के प्राकृतिक चक्र में हमारे आसन्न विध्वंस के संकेत नहीं छिपे हैं? पर्यवेक्षक की हैसियत से उसे विस्नू बिजारिया के सारे धंधों को नज़दीक से जानने का अवसर प्रदान करते हैं संजीव। पहले बेला और फिर विस्नू की तलाश में भारत के समुद्र तटों से लेकर न्यूफाउंडलैंड (कनाडा) के समुद्र तटों तक मत्स्य पालन उद्योग के अंदरूनी सच को जाना है उसने। साथ ही जाना है भारत और शिकागो के स्लॉटर हाउस में फलते-फूलते मांस उद्योग के घिनौने सच को जहाँ वैज्ञानिक उपकरणों की मदद से प्रोफेशनल दक्षता के साथ 'जीवन से भरे मवेशी पाउंडों, डालरों, यूरों और येनों में तब्दील हो रहे थे। उनका जिस्म कट-पिट नुच-चुँथ कर पैकिंगों में (पृ. 250)।' यही नहीं, जार में रखे नौवें माह के भ्रूण के मांस पिंड पर लगाये गये लेबल 'बाल भोग' का रहस्य भी अब खुला है उसके सामने जब समृद्धि, ग्लैमर और तेज़ रोशनियों के नीचे फल-फूल रहे यौनिकता उद्योग के नरक को अपनी आँखों से देखा है उसने। धर्मराज युधिष्ठिर की तरह जिम के साथ नरक की यात्रा का एक दिन उसके लिए ज़िंदगी का हैबतनाक अनुभव है। धन-कुबेर बनने की चाह में जीवों की अनेकानेक प्रजातियों को अंधाधुंध नष्ट करते चलना; महानगरों में इन उद्योगों को केंद्रित करने की व्यावसायिक विवशता के चलते इन जीवों के पोषण और वध से होने वाले प्रदूषण के कारण पारिस्थितिकीय संकट को बढ़ाना क्या अपने पैरों आप कुल्हाड़ी मारना नहीं है? जब देश-विदेश में 'शाइनिंग पिगरी' जैसी अनेक पिगरीज़ हों जिनके फ़ोर बाइ सिक्स के एक दड़बे में एक मादा सूअर और उसके दर्जन भर छौने रखे जाते हों, उनके मल-मूत्र की निकासी की समुचित व्यवस्था की ज़रूरत न महसूसी जाती हो; वध के बाद मक्खियों और विषाणुओं से लिथड़ा उनका खून, हड्डियाँ, मांस, आँखें, सींग, आँतें, खाल महामारी के प्रजनन के लिए खुले छोड़ दी जाती हों; साढ़े चार मिलियन गैलन मल-मूत्र और गंदगी का डिस्पोजल सीधे नदी में किया जाता हो, और मज़दूरों को उन्हीं अमानवीय स्थितियों में अधपेट भूखा रख कर काम करने को बाध्य किया जाता हो, वहाँ निरंतर बजती शोकधुन को समाप्त करने के लिए क्या अपना खप्पर लेकर प्रकृति का तांडव-नृत्य करना अनिवार्य विकल्प नहीं जान पड़ता? यक़ीनन इसलिए एदिता मोरिस[10] को यह कहने में कोई गुरेज़ नहीं कि 'अगर आदमियों का क़त्ल न किया जाए तो पशु-पक्षियों और पेड़-पौधों को नष्ट किया जाना भी एक आदमी को शर्म से अपनी आँखें झुकाने के लिए काफ़ी है।' (*वियतनाम को प्यार*, पृ. 120) *नरककुंड में बास* (जगदीशचंद्र) और *जंगल* (अप्टन सिंक्लेयर) में दोनों उपन्यासकारों ने औद्योगिक विकास को जिस संदर्भ में रखा है, वह मनुष्य बनाम यंत्र का मुद्दा उठा कर बहस को एक निश्चित और सुचिंतित परिणति देता है, लेकिन आज का नवऔपनिवेशिक दौर आर्थिक उदारीकरण का मुखौटा ओढ़ कर जिस कुशलता से व्यक्ति को यंत्र और बाज़ार में बदल रहा है, वहाँ उसे जगाने

[10] जन्म और राष्ट्रीयता से स्वीडिश और नागरिकता के नाते अमेरिकी लेखिका एदिता मोरिस अमेरिकी सरकार के युद्धोन्माद के ख़िलाफ़ अमरीकी जनता को उद्बुद्ध करने वाली प्रबुद्ध एवं संवेदनशील रचनाकार हैं. *हिरोशिमा के फूल* और *वियतनाम को प्यार* उनकी अत्यधिक चर्चित औपन्यासिक कृतियाँ हैं.

और जनांदोलन के लिए चेतन करने की सम्भावनाएँ काफ़ी क्षीण हैं। संजीव *रह गईं दिशाएँ इसी पार* में अपने पूर्ववर्ती रचनाकारों की तरह दिशाहीन गति की ओर उन्मुख औद्योगिक सभ्यता के संकटों को चिह्नित नहीं करते, बल्कि व्यक्ति के भीतर बैठी बेलगाम उपभोक्तावादी मानसिकता से उत्पन्न ख़तरों को संकेतित करते हैं जो अपनी परिणतियों में सामंतवादी व्यवस्था के दुष्प्रभावों और आतंक से कहीं ज़्यादा विस्फोटक हैं। यदि सिर्फ़ बाज़ार मनुष्य का नैसर्गिक सत्य होता तो आत्मा के सुकून और आत्मीय संबंधों के विकास के लिए 'घर' का निजी कोना उसकी ज़रूरत न होता? लेकिन आज बाज़ार ने उसकी चेतना पर क़ब्ज़ा जमा कर क्या उसे अ-मनुष्य नहीं बना दिया है? वह, ज़्यादा से ज़्यादा, प्रोडक्ट है, अपनी निजता, अस्मिता और जीवंतता से शून्य। संजीव अपनी व्याकुलता को अजय के दुःस्वप्न में गूँथते हैं :

'पूरा देश बैठा है बेचने। क्या बेच रहे हैं लोग?

मछली? मांस?

सिर्फ़ मछली नहीं। सेक्स, आँख, दिल, ख़ून, किडनी, स्टेम सेल, कोख...

अलसायी-अलसायी धूप में टाँगें फैलाये— डिंब ले लो डिंब।

मछली, घड़ियाल, कछुए, मुर्गी, हंस के नहीं, आदमी के डिंब, आदमी के। उकड़ूं बैठी... टाँगें फैलाये ...स्पर्म ले लो स्पर्म, जैसा चाहो वैसा स्पर्म।

लोग हथेलियों पर रख कर अपना माल दिखा रहे हैं— ये देखो, ये डिंब, ये वीर्य, ये कोख, ये... सब बेच रहे हैं ख़ुद को, झेंपने की ज़रूरत नहीं। शील, अश्लील, मूल्य, संस्कार की सारी रेखाएँ मिट गयी हैं।... यहाँ न पूरब है, न पश्चिम, न उत्तर न दक्षिण, न ऊपर न नीचे, न कोई रिश्ता है, न कोई संस्कार...

स्वयं में समाहित है यह ब्रह्माण्ड, मैं भी।

किसी का कोई केंद्र नहीं, मेरा भी नहीं। मैं स्वयं अपने आप का केंद्र हूँ (पृ. 303)।'

ख़ौफ़ज़दा संजीव बेशक इसे स्वप्न-जागरण, चेतन-अचेतन, स्थिति-स्थितिहीनता के बीच कोई संज्ञा दें, लेकिन यह संवेदनशील व्यक्ति की आँख से देखा गया भविष्य-दर्शन ही तो है। विज्ञान की भित्ति पर टिकी मार्केटिंग यदि स्थिति से बढ़ कर जीवन-मूल्य बन जाए तो ऐसा क्योंकर न होगा? आदमी को मार कर खा जाने वाली कबीलाई संस्कृति की स्मृतियाँ अभी इतनी क्षीण नहीं हुईं कि उन्हें पुनर्जीवित न किया जा सके। यूँ भी अतीत की व्याख्याएँ सदा से आज के सामर्थ्यवानों द्वारा अपने मंतव्यों को 'मूल्य' सिद्ध करने के लिए की जाती रही हैं।

II

'तुम एक खिड़की के फ्रेम से ही आसमान को क्यों देखने की ज़िद रखते हो? आसमान तो हर तरफ़ फैला हुआ है। पूरा देखना हो तो तुम्हें खिड़की से बाहर निकलना होगा।'[11]
बनाम 'मन की सीमा को जान लो। वही मुक्ति है।'[12]

मैं एक बार फिर एदिता मोरिस को याद करना चाहूँगी। अपने उपन्यास *हिरोशिमा के फूल* में

[11] अलका सरावगी (2008), *एक ब्रेक के बाद,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली : 111. (लेख के इस भाग में उद्‌धृत पृष्ठ संख्याएँ इसी उपन्यास से).

[12] अलका सरावगी (2008): 34.

माएदा-सान, नामक पात्र का परिचय देते हुए वे लिखती हैं— 'माएदा-सान अपने को एक बाग़ीचा समझता है, एक छोटा-सा बाग़ीचा जिसमें लगातार बाग़वानी की जा रही हो। रोज़ वह अपने अंदर का एक चप्पा निखारता है— उसे खोदता है, साफ़ करता है, पानी देता है, नयी खाद में नये बीज बोता है।... नहीं तो माएदा-सान के विचार में आदमी के अंदर बंजर भूमि रह जाती है— ज़हरीले साँस और दुर्गंधित घास-फूस वाली भूमि जो कि हर चीज़ का दम घोंट देती है'।[13] आत्म-परिष्कार की यह नैतिक कोशिश व्यक्ति का 'धर्म' है और 'मनुष्य' होने की बुनियादी पहचान भी। ध्यातव्य है कि आत्मपरिष्कार की सजग साधना उसके लिए अनिवार्य भी है क्योंकि अपनी कुत्सित अभीप्साओं के चलते प्रकृति के साथ स्वस्थ-सहज संबंधों में गड़बड़ सिर्फ़ वही तो करता है।

लेकिन 'कुत्सित अभीप्साओं' में घिरे व्यक्ति का दम्भ क्या उसे अपनी पतनशीलता को देखने-स्वीकार करने का संवेदनात्मक साहस देता है? नहीं, यह प्रश्न नहीं है, एक हताश स्टेटमेंट है— व्यक्ति मात्र से कर्मठता और ज़िम्मेदारी की माँग करती। इसलिए सबसे पहले जाँचना ख़ुद को ही है— अपने मंतव्यों, अभिलाषाओं, लालसाओं और गतिविधियों को। दर्शक नहीं, द्रष्टा होकर। अपने से बाहर फैल कर, लेकिन उतना ही अपने भीतर गहरे उतर कर। इस सत्य की उँगली पकड़ कर कि पर्सनल इज़ पॉलिटिकल; कि जो आत्म है, वही संसार है। आत्म-प्रवंचना बिल्कुल नहीं। दो और दो चार वाली निर्भीक साफ़गोई। आकर्षक पैकेजिंग द्वारा हर चीज़ को सर्वसुलभ बनाने वाला उपभोक्तावाद एक यही चीज़ तो उपलब्ध नहीं करा सकता। अलबत्ता इसके एवज़ में अपने को 'निष्पाप' और 'मासूम' दिखने के मुखौटों की ख़ूब सौदागरी करता है वह। व्यंग्य को हथियार बना कर अलका सरावगी *एक ब्रेक के बाद* उपन्यास में स्थिति के इस विद्रूप को ख़ूब उठाती हैं। अपनी बात वे दो पात्रों के ज़रिये कहती हैं— के.वी. शंकर अय्यर और गुरुचरण दास। एक घोर अहंनिष्ठ, दूसरा सघन स्वप्नजीवी, लेकिन इतना आत्मस्थ और चुप्पा कि के.वी. अंत तक उसके रहस्य को नहीं समझ पाते। के.वी. का बड़बोलापन गुरुचरण दास की भीतरी दुनिया को उसके इरादों के साथ मज़बूत करता चलता है तो बाहर की दुनिया में भौतिकता के प्रसार की किसी भी सम्भावना को अनछुआ नहीं छोड़ता। वह उस दुनिया का बेताज़ बादशाह है जो मोबाइल का फैंसी नम्बर ख़रीदने के लिए पंद्रह लाख रुपए माथे पर शिकन डाले बिना फूँक सकती है। अलबत्ता इस दुनिया में माथे की शिकनें इस दुविधा में गहराती हैं कि ऊपर तक फूली जेबों को ख़ाली करने के लिए वे कौन सी गाड़ी, कौन सा बंगला, कौन सा माइक्रोवेव, कौन सा कैमरा ख़रीदें ताकि अपने पड़ोसी-परिचित से ज़्यादा समृद्ध, आधुनिक और विशिष्ट दीखें। 'जो भौतिक पदार्थों को ही जीवन में सफलता का मापदण्ड मानता हो, वह कैसे समझेगा कि विचारों की उड़ान में क्या सुख है (पृ. 113)'।

एक ऊँचाई पर बैठ कर भौतिकता के दलदल में धँसे इन केंचुओं को देख कर हिकारत से भर उठे हैं के. वी. और उसी अनुपात में आत्माभिमान में। टेलीविज़न पर शुरू की गयी स्काई शापिंग स्कीम समेत ऐसी कई उपलब्धियाँ हैं उनकी झोली में जिन्होंने भरे-पूरे इंसानों को बाज़ार की इस चरागाह में चरने वाली भेड़ों में तब्दील कर दिया है। वे किंगमेकर हैं। दुनिया की कोई भी समस्या या सवाल दुविधा बन कर उनके सामने नहीं आती। समाधान चटपट चुटकियों में है। संदर्भ चाहे गुरु

---

[13] एदिता मोरिस (1984 क), *हिरोशिमा के फूल,* राजकमल पेपरबैक्स, दिल्ली: 40.

[14] गुरु को सलाह देते हुए के.वी. कहते हैं— 'तुम लिखो कि तुम्हारी कम्पनी सिर्फ़ मार्केट के बारे में नहीं सोचती। उसका विज़न, उसके वैल्यूज़ और उसकी वाइटेलिटी इसमें है कि विकास को सस्टेनेबल और एक्सक्लूसिव बनाये. तुम लिखो कि तुम्हारी कम्पनी इस ज़िम्मेदारी को पूरा करने के लिए, देश के पानी और हवा को बचाने के लिए वाटर पॉजिटिव और कार्बन पॉजिटिव हो गयी है. बस, सॉलिड वेस्ट को ख़त्म करने में कुछ ही क़दम चलना बाक़ी है. अलका सरावगी (2008): 92.

[15] पुलिस को इस तरह मज़दूरों पर अत्याचार करते देख तक़लीफ़ तो होती है, पर देश की भलाई में कोलेटेरल डैमेज़ यानी छोटे-मोटे आनुषंगिक नुक़सान तो उठाने ही होंगे. अलका सरावगी (2008): 116.

को कारपोरेट सोशल रिस्पांसिबिलिटी का मतलब समझाने का हो[14] या गुड़गाँव में होंडा कम्पनी के मज़दूरों पर पुलिस के लाठीचार्ज का।[15] लफ़्फ़ाज़ी और संवेदनहीनता उनकी वैल्यूज़ हैं और नयी पीढ़ी को दिये जाने वाले संस्कार भी। अलका सरावगी उन्हें व्यक्ति नहीं, कॉरपोरेट वर्ल्ड के एसेंशियल चरित्र के रूप में उभारती हैं जो बालू में से तेल निकालना ही न जानता हो, वरन उसकी तिजारत कर अपना एम्पायर खड़ा करने की क्षमता भी रखता हो। *एक ब्रेक के बाद* में अलका सरावगी बेहद श्रमपूर्वक क्रमशः इन्हीं तथ्यों को उकेरती हैं कि किस प्रकार पहले बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ औद्योगिक विकास की आड़ में प्राकृतिक संसाधनों का अंधाधुंध दोहन कर रही हैं, इस प्रक्रिया में तीसरी दुनिया के देश उनके लिए कच्चा माल उपलब्ध कराने की मंडियाँ हैं या कचरे के डंपिंग स्टेशन। इसके बाद, दूसरी अवस्था में जब से ग्लोबल वार्मिंग के बढ़ते ख़तरे घर में घुस कर तीसरी दुनिया के ताक़तवरों को डराने-धमकाने लगे हैं, तब से प्रकृति के संरक्षण की चिंता उन्हें सताने लगी है। एक अजीब धर्मसंकट उनके सामने उपस्थित है। अपने को बचाये रखने के लिए प्रकृति और धरती को उन्हें बचाना है, लेकिन ऊर्जा संकट से निपटने के लिए सुख-सुविधाओं का उपयोग करना कैसे छोड़ा जा सकता है? ज़िंदा रहने का अर्थ तीसरी दुनिया के देशों की तरह शारीरिक श्रम करना तो नहीं हो सकता न! यूँ भी जिन पैरों को एक़्सीलरेटर पर खड़े होकर लम्हे में ऊँचाइयाँ नापने की आदत हो, वे एक-एक सीढ़ी चढ़ने का धीरज और समय कैसे पा सकते हैं? तब उनके सामने एक ही सवाल अहम रहता है कि अपने मौजूदा लाइफ़ स्टाइल को शान से बनाये रखते हुए धरती को कैसे बचाया जाए? यहीं से शुरू होती है तीसरी अवस्था जो समाधान के लिए एक बार फिर तीसरी दुनिया की ओर ही लौटती है। तीसरी दुनिया की ग़रीबी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के लिए वरदान है। शोषण करने और कचरा फेंकने के अलावा अब वे अपना पाप बेचने का व्यापार भी यहाँ ख़ूब चला सकते हैं। कार्बन क्रेडिट की ख़रीद फरोख़्त करके। के. वी. जैसे देसी साहब इन कम्पनियों के वफ़ादार एजेंट हैं। वे जानते हैं कि हवा में एक टन कार्बन डाइआक्साइड कम करने से एक कार्बन क्रेडिट मिलता है जिसे विदेश में दस से तीस यूरो में बेचा जा सकता है। हींग लगे न फिटकरी रंग चोखा होय। के.वी. कार्बन क्रेडिट जमा करने के लिए कम्पनी खोलते हैं— कार्बोवेज़ सिस्टम्स इंक। बेहद उत्साहवर्धक तथ्य उनके सामने हैं कि सिटी ऑफ़ लंदन में तीस मिलियन डालर का कार्बन व्यापार हो रहा है और अकेले भारत के हाथ में दुनिया के कार्बन व्यापार का 31 प्रतिशत बाज़ार है। 'भई, आप फ़ैक्टरियाँ बंद मत कीजिये, बेशक हवा में कार्बन छोड़ते रहिए। बस, जैसे आप स्टील फ़ैक्टरी के लिए लोहा खरीदते हैं, वैसे ही कार्बन क्रेडिट ख़रीद लीजिये। पूरी धरती का आसमान तो एक ही है, आप कहीं हवा-पानी बिगाड़िए, पर कहीं और की हवा-पानी सुधार दीजिये। दिक़्क़त क्या है (पृ. 151)?'

के.वी. के अपने तर्क हैं और अपनी विलक्षण कार्य-शैली जहाँ कम्पनियों का एन.जी.ओ. के साथ अनिवार्य गठबंधन कर दिया गया है। एन.जी.ओ. यानी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का इको-फ्रेंडली नक़ाब। के. वी. जिस कॉरपोरेट फ़र्म के मार्केटिंग सलाहकार का काम कर रहे हैं, उसको उन्होंने हज़ार हेक्टेयर ज़मीन पर पेड़ लगाने की सलाह दी है। इससे जो पैसा आयेगा, वह सिर्फ़ कार्बन क्रेडिट के ज़रिये ही नहीं आयेगा, उससे फ़र्म की पेपर मिल को लकड़ी की लुगदी मिलती रहेगी जिसे वह फ़िलहाल इंडोनेशिया से इम्पोर्ट कर रही है। 'दुनिया को पीछे की ओर नहीं धकेला जा सकता। अगर पेड़ ही दुनिया को बचा सकते हैं तो यही सही। के. वी. जिन-जिन फ़र्मों के सलाहकार बनेंगे, सबको भारत की बंजर भूमि हरा बनाने के लिए प्रेरित करेंगे। उन्हें समझाएँगे कि पेड़ लगा कर किस तरह आप करोड़ों रुपये कमा सकते हैं (पृ. 150)।'

जिस निःसंग ढंग से अलका सरावगी के.वी. के एक्शन प्लान को बता रही हैं, वह वचन-वक्रता का रूप लेकर एक अहम सवाल उठाता है कि सस्टेनेबल विकास और रिन्यूएबल एनर्जी का उपयोग पृथ्वी को बचाने के लिए की जाने वाली मानवीय कोशिशें हैं या नवउपनिवेशवादी ताक़तों के

साम्राज्य को बनाये रखने की जुगतें? पारिस्थितिकीय संकट के निवारण के लिए जिस नयी पारिस्थितिक सभ्यता का स्वप्न देखता है मनुष्य, वहाँ सबसे पहले सह-अस्तित्व और परस्पर सम्मान की भावना अर्जित करना अनिवार्य है। फिर उसके बाद अपने लोभ और लालसाओं पर अंकुश लगाने का मनोबल! आत्मसंयम, आत्मानुशासन और आत्मपरिष्कार— नयी पारिस्थितिक सभ्यता जिन तीन मूल्यों को केंद्र में लेकर चलती है, वे कुछ लोगों को यूटोपिया का आभास भले ही दें, लेकिन इन्हें व्यवहार में उतारे बिना वर्तमान संकट से जूझना सम्भव भी नहीं। अलका सरावगी, अलबत्ता यूटोपिया की तमाम आशंकाओं से मुक्त इन्हें व्यक्ति जीवन में फलीभूत करना सम्भव मानती हैं। अपने मंतव्यों की पूर्ति हेतु उपन्यास में ही वे ऐसे 'सिरफिरे' दो पात्रों की सृष्टि करती हैं— रंगनाथन और गुरुचरण दास। रंगनाथन कथा में साक्षात उपस्थित नहीं है।

के.वी. की बातों में एक रेफ़रेंस के तौर पर वह जब-तब आता है। शायद लेखिका के इस विश्वास की पुष्टि के लिए कि गुरुचरण अपनी जमात में अकेला नहीं। अलग-अलग छिटकी लेकिन अपनी-अपनी परिधि में सक्रिय ऐसी अपरिहार्य इकाइयाँ अनेक हैं। रंगनाथन गुरुचरण दास की तरह चुप्पा नहीं है। के.वी. की तरह वह भी ख़ासा बड़बोला है और के.वी. का क्रूर आलोचक भी। बुनियादी तौर पर वह मानववादी है, इसलिए मखमली कालीन के नीचे छिपी विकृत सच्चाइयाँ फ़ौरन देख-सूँघ भी लेता है और उनका भंडाफोड़ भी कर बैठता है। लेकिन अपने तमाम संवेदनात्मक विवेक के बावजूद वह आवेश और आक्रोश में विघटित हो जाने के लिए अभिशप्त है। इसलिए लेखिका बेहद मनोयोग से गुरुचरण दास का चरित्र रचती हैं जिसने आवेश को थिरा कर संयम और विवेक का रूप दे दिया है। रंगनाथन बहुमूल्य पत्थरों के व्यापारियों द्वारा अधिकाधिक मुनाफ़ा कमाने के लिए लोगों को अंधविश्वासी बनाने की जिस मार्केटिंग स्ट्रेटजी को अनैतिक मानता है, उसे ही गुरु मानव-मनोविज्ञान की सहज समझ पर आधारित एक सफल व्यापारिक नुस्ख़ा कहता है क्योंकि वह जानता है कि अनहोनी की आशंका और भविष्य का डर आम आदमी को हमेशा कमज़ोर बनाता है। ज़ाहिर है इस भय को अपनी ताक़त बना कर नवग्रह रत्न व्यवसायी ज्योतिषाचार्यों को सेल्समैन की नयी भूमिका में उतारते हैं।

गुरु का विश्वास है कि उद्योग जगत की इन रणनीतियों को यदि निष्प्रभ बनाना है तो इसके लिए नैतिकता की दुहाई देना पर्याप्त नहीं, बल्कि आम आदमी के मनोबल और तर्कणा

जिस नयी पारिस्थितिक सभ्यता का स्वप्न देखता है मनुष्य, वहाँ सबसे पहले सह-अस्तित्व और परस्पर सम्मान की भावना अर्जित करना अनिवार्य है। फिर उसके बाद अपने लोभ और लालसाओं पर अंकुश लगाने का मनोबल! आत्मसंयम, आत्मानुशासन और आत्मपरिष्कार— नयी पारिस्थितिक सभ्यता जिन तीन मूल्यों को केंद्र में लेकर चलती है, वे कुछ लोगों को यूटोपिया का आभास भले ही दें, लेकिन इन्हें व्यवहार में उतारे बिना वर्तमान संकट से जूझना सम्भव भी नहीं।

शक्ति को बढ़ाना जरूरी है ताकि वह स्वयं अपना दिशा-निर्देशक बन सके। दूसरे, स्वप्नद्रष्टा होने के बावजूद गुरु रोमांटिक इडियट नहीं। वह ग़रीबी को त्याग, करुणा, संतोष और सौहार्द के संरक्षक मूल्य के रूप में महिमामंडित करने वाली भारतीय मानसिकता का वाहक नहीं, बल्कि इसे शुतुरमुर्गी वृत्ति मानता है। ग़रीबी दीनता और प्रलोभनों की जननी है, साथ ही अपराध की कर्मस्थली भी। इसलिए आश्चर्य नहीं कि मोबाइल, टीवी, कोकाकोला, पीत्ज़ा-बर्गर और डुप्लीकेट ब्रांडेड कपड़ों की ललक अभावग्रस्त पिछड़े ग्रामीण/आदिवासी क्षेत्रों में भी देखी जाती है। ये वस्तुएँ आधारभूत ज़रूरतों की तरह शहरी और समृद्ध लोगों की ज़िंदगी में शामिल हैं तो स्वयं उनकी ज़िंदगी में क्यों नहीं? लेकिन नहीं, यह होड़ की मानसिकता नहीं, दूसरों की तरह विशिष्ट या 'समरूप' होने की नैसर्गिक ख़्वाहिश है। फ़र्क़ यह है कि इस प्रक्रिया में अपनी पहचान और अपने सपनों से बेख़बर हो गया है इंसान। 'गाँवों के पास सपना है शहर बनने का। शहरों के पास महानगर बनने का। महानगरों के पास मेगापोलिस बनने का।...' गुरु (और लेखिका की भी) मान्यता है कि उपभोक्तावाद तृष्णाजन्य अभाव के जिस दुष्चक्र को रचता है, वहाँ अतृप्त हसरतों वाले व्यक्ति से मसीहा बनने की अपेक्षा व्यर्थ है। भोग की व्यर्थता भोग को चरम स्तर पर भोगने के बाद ही जानी जा सकती है। तभी त्याग ज़बरन ओढ़ी गयी शहादत न रह कर इच्छा से चुना गया 'सुख' बन पाता है और बोधिसत्व प्राप्त करने के लिए सही दिशा को चीन्हना सम्भव हो पाता है। यही कारण है कि गुरु का लक्ष्य बेशक कॉरपोरेट जगत के षड्यंत्रों से आदिवासियों को बचाना हो, लेकिन अपने सहयोगियों के रूप में राजेश्वरी, भू, रुक्मिणी, निर्मला जैसे समृद्ध और समर्थ लोगों को ही चुनता है। 'गुरु तो पंख लगा कर जैसे उड़ रहा है जीवन के आरपार (पृ. 97)' जैसी भावोच्छ्वासपूर्ण क़सीदेकारी की सहायता से अलका सरावगी ने गुरु को महिमामंडित करने में कोई कोर कसर नहीं छोड़ी है। गुरु विशिष्ट है क्योंकि इस 'एकांतजीवी अवधूत' में कल्पना की सृजनात्मकता है, सपनों को साकार करने की दृढ़ता है, सबको साथ ले चलने का विश्वास है, प्रेम के मर्म को समझने की सूक्ष्म संवेदना है और है यह विलक्षण जीवन-दृष्टि कि 'तुम किसी स्थिति में कूद सकते हो तो स्थिति के बाहर भी कूद सकते हो। क्या है जिसे बचाना है (पृ. 187)।'

गुरु के चरित्र की परिकल्पना में लेखिका ने आइसबर्ग के बिम्ब को भी सामने रखा है— नौ बटा दस भाग सृजन की चिंताओं में डूबा और सतह पर दीखता मात्र एक भाग उन चिंताओं को व्यावहारिक जामा पहनाने के लिए भौतिक संसाधनों की व्यवस्था में जुटा हुआ। वह एक ही समय में एक साथ दो स्तरों पर जीता है। वह के.वी. को उसका अनन्य प्रशंसक होने का विश्वास दिलाता है क्योंकि के. वी. के ज़रिये वह कॉरपोरेट जगत के प्रपंचों और दोगली नीतियों को जान सकता है और कम्युनिकेशन एडवाइजर के तौर पर उनकी बातों का उपयोग कर अपनी कम्पनी में अपनी उपादेयता सिद्ध करता है। इस सतही ज़िंदगी में वह मात्र रोबोट है या अनुगूँज। लेकिन उसकी असलियत बार-बार पहाड़ों की ओर लौटती उसकी ऊर्जा में सन्निहित है जो कभी उसे काठमांडू घाटी में बढ़ते तापमान और प्रदूषण के ख़िलाफ़ प्रदर्शनकारियों से जुड़ने को प्रेरित करती है तो कभी अपनी भावी कार्यस्थली के रूप में एक ऐसे क्षेत्र को चुनने की व्यग्रता बनती है जहाँ उसकी सबसे ज़्यादा ज़रूरत है। गुरु के पास मुखौटाधारी कॉरपोरेट जगत को मुखौटा लगा कर परास्त करने की युक्ति है। कम्पनी के हितैषी के रूप में उसका अपना ट्रैक रिकार्ड कम्पनी और उसे दोनों को आश्वस्त किये हुए है। यह अलग बात है कि हितैषी की भूमिका में वह निरंतर जिन तथ्यों/आँकड़ों/अख़बारों की कतरनों को सहेज-सहेज कर रख रहा है, वह कहीं से भी कम्पनी का हित साधते नहीं दीखते। बल्कि के.वी. के शब्दों का इस्तेमाल करें तो 'गुरुचरण ऐसे तथ्य और आँकड़े लिख रहा था जैसे कोई कम्पनी का दुश्मन, मानवाधिकार वाला या कोई ईमानदार पत्रकार लिखेगा (पृ. 171)।'

आवेश यदि रंगनाथन की पहचान है तो अप्रत्याशित व्यवहार और अतिनाटकीयता गुरु का

परिचय, बेशक इसके पीछे लेखिका ने उसके सुस्पष्ट जीवन-दर्शन को बुनियादी कारण बताया है। दरअसल स्वयं लेखिका अतिनाटकीयता के माध्यम से कहानी में अप्रत्याशित मोड़ लाकर पाठक को 'धक्का' देना चाहती हैं, लेकिन ख़ुद उस धक्के को सम्हाल नहीं पातीं। गुरु की डायरियों से स्पष्ट है कि पचास साल की आयु के बाद ज़िंदगी की दूसरी पारी शुरू करने के लिए वह पहले से ही सोचता और योजनाबद्ध तरीक़े से काम करता आया है। नौकरी करके उसने अपने आर्थिक आधार को मज़बूत किया है, पी.एफ. और ग्रेचुएटी के रूप में कम्पनी में जमा रक़म को लोन के रूप में लगभग पूरा वसूल लिया है; भौतिक दुनिया से अधिकारी के रूप में 'लापता' होने के लिए 'अपहरण' जैसे कांड का नियोजन कर लिया है।

फूलों की घाटी से अपनी इस नयी ज़िंदगी की शुरुआत करने का संकल्प उसने बेहद भावनात्मक ढंग से अपनी डायरी में क़लमबद्ध भी किया है कि 'हम हवा-पानी की चौकीदारी करेंगे। धरती को नष्ट होने से बचायेंगे। हम नफ़रत को ख़त्म करेंगे। हम एकमन होकर जी सकते हैं। ॠग्वेद के सहसूक्त की तरह हम सहमना होकर चलेंगे, सहमना होकर बोलेंगे और एक समान हृदय वाले जाने जाएँगे।... मैं इस धरती पर अपना छोटा-सा ही सही, लेकिन स्वर्ग बना सकूँगा। हम जहाँ चलेंगे, वहाँ खुशबुएँ रह जाएँगी। हम जहाँ बहेंगे, वहाँ हमारे प्रवाह का स्वर गूँजेगा। हम अपने आसपास के वृक्षों, हवाओं, पानी और सारे लोगों की सारी वेदनाएँ समेट लेंगे। हमारे मन दर्पण की तरह साफ़ होंगे। मैंने आदिवासियों के जीवन को पास से देखा है। उसमें जो सामूहिकता की, सबके सुख-दुख अपने मानने की सुंदरता है, उसे हम अपने जीवन में उतार लेंगे। मुझे पता है कि ये सब लोग मेरा साथ देंगे (पृ. 212)।' लेकिन 'उन सब' लोगों को विश्वास में लेकर अपने सपने और संकल्प को साझा करने का अवसर नहीं देती लेखिका उसे। क्या इसलिए कि *एटलस श्रग्ड* (आयन रेंड) उपन्यास से प्रेरणा लेकर एक समानांतर दुनिया की परिकल्पना करना आसान है, उस दुनिया को पूरे वैभव, सार्थकता और जीवंतता के साथ 'बसाना' मुश्किल? क्या इसलिए कि इस नयी समानांतर दुनिया के सृजन के लिए जिस विज़न की अनिवार्यता है, वही लेखिका के पास नहीं? कहना न होगा कि इसीलिए गुरुचरण दास की अकाल मृत्यु एक सपने की भ्रूण हत्या के रूप में चौंकाती और क्षुब्ध करती है।

गुरु की डायरी में उसके सहयोगी के रूप में एक जगह भट्ट का नाम दर्ज है। बेशक भट्ट के भीतर का सौंदर्यान्वेषी घुमक्कड़ उसे गुरु के सपनों से जोड़ता है। गुरु का संसर्ग उसे भारहीन होने की प्रतीति देता है और दुनियावी फंदों से मुक्त होने का साहस भी। लेकिन निर्द्वंद्व होकर निर्णय लेने का साहस उसमें नहीं। मन की सीमा जानने के लिए अपने भीतर जितना धँसता है, उतना ही उलझता चलता है क्योंकि वहाँ उसने प्रलोभनों और विवशताओं के कीचड़ में लिथड़े आत्मतुष्ट भट्ट को देखा है। तो क्या विशिष्ट बनने का छद्म ओढ़ कर वह अपने को ही ठगता रहा है? तो क्या गुरु अपने सहयोगियों के इस 'सच' को जानता था? उसकी डायरी में दर्ज अवसाद के पीछे क्या विश्वास-भंग की यही पीड़ा नहीं थी जिसने उसकी जिजीविषा को ही कुतर दिया?

यहाँ एक सवाल यह भी उठता है कि आख़िर लेखिका ने रंगनाथन की सदाशयता को आवेश में और भट्ट की स्वप्नाकुलता को भौतिकता में बाँध कर क्यों विघटित किया है? क्या उपभोक्तावाद का दबाव इतना प्रचंड है कि वे चाह कर भी *एटलस श्रग्ड* की कल्पना नहीं कर सकतीं? तो क्या गुरुचरण की मृत्यु नयी पारिस्थितिकीय सभ्यता के विकास की सम्भावनाओं की मृत्यु है? नयी पारिस्थितिकीय सभ्यता यानी विकास का ऐसा मॉडल जो सिर्फ़ भौतिक समृद्धि पर आधारित न हो, बल्कि मनुष्य और पर्यावरण की चिंता उसके केंद्र में हो। क्या उपन्यास की सार्थकता एक शोकगीत के रूप में इस तथ्य को रेखांकित करने में ही है कि 'जितने सपने यह देश देखेगा, वे सपने देश के तमाम भट्ट लोगों

के ही सपने होंगे (पृ. 215)।' साहित्येतिहास की सुदीर्घ परम्परा साक्षी है कि शोकगीत कभी मृत्यु की विजय-पताका नहीं बना। वह अंत तक प्राणप्रण से संघर्ष का निनाद और जीवन का राग रहा है। उपन्यास की दारुण परिणति को लेकर दुखमिश्रित हैरत इसलिए भी अधिक है कि इससे पूर्व अपने पहले ही उपन्यास *कलिकथा वाया बाइपास* में लेखिका प्रकृति की चेतावनी न सुनने के कारण उपजे दुष्परिणामों की फ़ैंटेसी कर चुकी हैं।[16]

एक ब्रेक के बाद उपन्यास का अंत आत्मतुष्ट जड़ता और दृष्टिहीनता के जिस बिंदु पर होता है, वह *रह गयी दिशाएँ इसी पार* का विलोम रचता है। *रह गईं दिशाएँ इसी पार* उपन्यास की सबसे बड़ी शक्ति यही है कि इसके रोम-रोम में बसा आशावाद त्रासदी के मर्मांतक आघात को छिन्न-भिन्न करता चलता है। इसलिए गुरु की तरह स्वप्नद्रष्टा और भावुक न होते हुए भी जिम मृतप्राय संबंधों, मूल्यों, संस्कृति और मानवीय अस्तित्व को बचाने के लिए कमर कस लेता है। 'आस्थाहीन होकर हम कैसे रह सकते हैं? रिश्ते न भी हों तो भी हमें ईज़ाद कर लेने होंगे... ईश्वर न भी हो तो ईश्वर भी।'[17] यह एक छोटी लकीर के मुक़ाबले गाढ़ी और बड़ी लकीर उकेरने की कोशिश है— अर्थगर्भित! दिशागर्भित! क्या यही मन की सीमाएँ जान कर असीम हो जाने का रहस्य नहीं?

III

'यह कैसी ऊर्जा है जिससे मानवता को, सृष्टि को इतना ख़तरा है'[18]
बनाम 'दर्द को समझने से पहले इंसान को स्वयं दर्द तक पहुँचना चाहिए'[19]

नवउदारतावादी अर्थव्यवस्था और उपभोक्तावाद के गठबंधन ने बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को अनायास ही यह अधिकार दे दिया है कि विकास के नाम पर मदद हेतु वे तीसरी दुनिया के तम्बू में

---

[16] अचानक संसार में प्रकृति के पाँचों तत्व— मिट्टी, जल, आग, आकाश और हवा— गड़बड़ा गये. ... दुनिया के सबसे ताक़तवर देश में पेड़-पौधे मरने लगे— इस तरह जैसे धरती के अंदर किसी ने ज़हर घोल दिया हो। हवा में ऑक्सीज़न की इतनी कमी हो गयी कि लोगों के लिए साँस खींचना दुष्कर होने लगा. सारा धरती का पानी सूखने लगा और बादलों रहित आकाश इस तरह तपने लगा जैसे रेगिस्तान की रेत. ... दुनिया के सारे देशों में पेट्रोल से चलने वाली हर चीज़ तुरंत बंद कर दी गयी क्योंकि पृथ्वी के चाँद की तरह हवा रहित बन जाने के पीछे सबसे बड़ा ख़तरा पेट्रोल-डीज़ल-गैस और कोयले से चलने वाली चीज़ों का था. बिजली का उत्पादन एकदम रोक दिया गया. इसका नतीजा यह हुआ कि सारे कल-कारख़ाने रुक गये। ख़ासकर ख़ाद बनाने वाले और रसायन बनाने वाले कारख़ानों को तुरंत बंद करने के आदेश विश्व की सरकारों ने जारी किये. ... सारी मोटर गाड़ियाँ बेकार हो गयीं. बड़ी-बड़ी इमारतों में लिफ़्ट न चल पाने के कारण और पानी न पहुँच पाने के कारण उनमें रहना असम्भव हो गया. अब सबसे सुखी सबसे ग़रीब आदमी बन गया जिसे धरती पर ही रहने और पैदल चलने की आदत थी. सबसे ज़रूरी काम खाने के लिए अनाज-फल-सब्जियाँ उगाना हो गया और इस काम को जानने वालों की तनख़्वाह सबसे अधिक हो गयी. पृथ्वी को बचाने का अब एक ही तरीक़ा था कि आदमी का श्रम सारी मशीनों की जगह ले और यह श्रम अधिक से अधिक हरियाली के उत्पादन में लगे— ऐसी हरियाली जिसमें किसी तरह के रसायन का प्रयोग न हो. अब पेड़-पौधों से उत्पन्न होने वाली आक्सीजन ही इस पृथ्वी को बचा सकती थी. यह सूचना दुनिया में फैलाने के लिए न कम्प्यूटर, टी. वी. और अख़बार की ज़रूरत थी, न हवाई जहाज़, जलयानों और रेलों की। यह बात ऐसी थी जिसे बच्चा-बच्चा तक अपने अंदर समझ गया था. लोगों ने यह भी समझ लिया था कि जिन सुविधाओं का भोग करने की उन्हें आदत पड़ गयी थी, वे ही उनके कष्ट का कारण हैं. जिस-जिस ने जितनी सुविधा भोगी थी, उसे उतना ही कष्ट हुआ. बाक़ी लोग जैसे रहते आये थे, उसी तरह रहते रहे. ऐसे लोग जो अपने गाँवों के अमूल्य हवा-पानी-आकाश को छोड़ कर शहरों में नरक जैसा जीवन बिताने आये थे, मुक्त हो गये. (अलका सरावगी (2008): 214-215).

[17] संजीव (2011): 309.

[18] महुआ माजी (2012), *मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली : 219. (इस भाग में दी गयी पृष्ठ संख्याएँ इसी उपन्यास से).

[19] एदिता मोरिस (1984 क) : 88.

ऊँट की भाँति पाँव पसारें और फिर मूल निवासियों को ही वहाँ से खदेड़ दें। झारखंड, छत्तीसगढ़ और उड़ीसा में खनन कम्पनियों की लूट को उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। यह लूट प्राकृतिक सम्पदा के अंधाधुंध दोहन के साथ ही समाप्त नहीं होती, अपने साथ अनेक विकृतियाँ, अव्यवस्था और समस्याएँ भी लाती हैं। जैसे भूमि-अधिग्रहण, विस्थापन, पर्यावरण प्रदूषण, खनन के बाद खुले गड्ढों में बरसाती पानी भरने से रोगाणुओं का संक्रमण, स्थानीय लड़कियों का शोषण, कुपोषण के कारण बढ़ती मृत्यु दर... अलका सरावगी ने मध्यप्रदेश के आदिवासियों के बीच गुरु के प्रभाव के माध्यम से संकेतों में, और रणेन्द्र ने 'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास में विस्तार से बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के रूप में उभरे नव-औपनिवेशिक साम्राज्य की सर्वभक्षी 'भूख' को चित्रित किया है। विडम्बना यह है कि देश की राजनीतिक प्रभुसत्ता अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं/बैंकों से ऋण लेने के कारण हर अनहोनी को नज़रअंदाज़ करने के लिए बाध्य है। इसलिए विकिरण के ख़तरों की अनदेखी करते हुए धड़ल्ले से यूरेनियम खनन हो रहा है और न्यूक्लियर प्लांट लगाए जा रहे हैं। कारण वही एक— उपभोक्तावाद के साम्राज्य को बनाये रखने के लिए सस्ती बिजली उपलब्ध कराने की बाध्यता जबकि सूचना क्रांति के कारण यह तथ्य अब किसी से छिपा नहीं है कि 'परमाणु संयंत्रों में एक हज़ार मेगावाट बिजली पैदा करने पर क़रीब सत्ताइस किलोग्राम रेडियोधर्मी कचरा उत्पन्न होता है जिसे निष्क्रिय होने में एक लाख साल से भी ज़्यादा का वक़्त लग सकता है।' हिंदी साहित्य में यूरेनियम विकिरण की समस्या को केंद्र में रख कर रचा गया महुआ माजी का उपन्यास *मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ* वाक़ई एक धमाकेदार सूचना के रूप में उपस्थित हुआ है। ख़ासतौर पर इसलिए भी कि अब तक की प्रचलित लीक से हट कर उपन्यास के टाइटल कवर पर ही हिंदी की वरिष्ठ लेखिका कृष्णा सोबती की अनुशंसा दी गयी है— 'हर सचेत नागरिक के लिए मानवीय चिंताओं की शैल्फ़ पर एक ज़रूरी टाइटल।' कहना ग़ैरज़रूरी है कि गद्‌गद सराहनापूर्ण यह टिप्पणी पाठ से पूर्व उपन्यास के प्रति एक विशिष्ट आग्रही दृष्टि को तैयार करती है। यह उपन्यास महुआ माजी के चार वर्ष के शोध-कार्य का परिणाम है। नि:संदेह एक खोजी पत्रकार और गम्भीर शोधार्थी की तरह झारखंड के बीहड़ जंगलों और जापान-अमरीका के परमाणु संयंत्रों का जायज़ा लेकर उन्होंने विषय से जुड़ी हर छोटी-बड़ी, ज़रूरी-ग़ैरज़रूरी जानकारी को सँजोया है।

राजनेताओं की तरह आधुनिक जीवन-शैली में रचा-बसा एक औसत सुशिक्षित शहरी व्यक्ति भी नहीं जानता कि बिजली बनाने के लिए धरती के गर्भ से बाहर निकले यूरेनियम को नष्ट होने की क्रमिक प्रक्रिया में घट कर आधा होने में ही साढ़े चार खरब वर्ष लग जाते हैं। अरे! वे अवाक् हैं। पृथ्वी की आयु जितनी अवधि! भय मोहिनी मंत्र बन कर उन्हें अपने पिटारे में सँजो कर रखी सारी सूचनाएँ पाठक से शेयर करने के लिए उकसाता है।

कितना अद्‌भुत! कितना ख़ौफ़नाक़ ! दिन-ब-दिन बढ़ती जानकारियों के साथ वे स्वयं चकित होती जा रही हैं और स्तब्ध भी। तब जान पाती हैं कि राजनेताओं की तरह आधुनिक जीवन-शैली में रचा-बसा एक औसत सुशिक्षित शहरी व्यक्ति भी नहीं जानता कि बिजली बनाने के लिए धरती के गर्भ से

बाहर निकले यूरेनियम को नष्ट होने की क्रमिक प्रक्रिया में घट कर आधा होने में ही साढ़े चार खरब वर्ष लग जाते हैं। अरे! वे अवाक् हैं। पृथ्वी की आयु जितनी अवधि! भय मोहिनी मंत्र बन कर उन्हें अपने पिटारे में सँजो कर रखी सारी सूचनाएँ पाठक से शेयर करने के लिए उकसाता है। उनके पास कुछ पात्रों के कटआउट हैं... कथा के कुछेक बीज... रोपने के लिए मरंग गोड़ा की ज़मीन... और बाँटने के लिए ढेरों ढेर सूचनाएँ। वे एक वैज्ञानिक की तरह अपने ले मैन पाठक को यूरेनियम की प्रकृति से पूरी तरह अवगत करा देना चाहती हैं— 'नष्ट होने या घटते जाने के क्रम में भी यूरेनियम कुछ अन्य रेडियोधर्मी तत्व जैसे प्रोटाकिटनियम, थोरियम, रेडियम, रैडान, पोलोनियम, बिस्मुथ, लेड आदि बनाता जाता है जिनके सम्पर्क में आकर भी हम क्षतिग्रस्त हो जाते हैं। ...यूरेनियम... के अणुओं में हमेशा विस्फोट होता रहता है जिससे उसके अणु के कुछ टुकड़े उससे टूट-टूट कर गिरते रहते हैं और उसमें से ऊर्जा निकलती रहती है। इसी टूटने की प्रक्रिया को रेडियो एक्टिविटी कहते हैं (पृ. 159।' लेकिन क्या इतनी ही सूचनाएँ यथेष्ट हैं? नहीं, उन्हें टैलिंग डैम की संरचना और दुष्प्रभावों[20] के बारे में बताना है; रेडिएशन से होने वाली बीमारियों की ही सूचना नहीं देनी है, वरन तिथियों में बँधे इन ग्लोबल तथ्यों को भी पाठक तक सम्प्रेषित करना है कि '1546 से जर्मनी के स्नीबर्ग में खनन मज़दूरों की मौत फेफड़े की रहस्यमयी बीमारी से हो रही थी। 1879 में जाकर पता चला कि उनमें से अधिकतर मौतें फेफड़े के कैंसर के कारण हुईं। और 1897 में वैज्ञानिकों ने यह पता लगा लिया कि यूरेनियम खनिज रेडियोधर्मी होता है (पृ.185-86)।' महुआ माजी सगेन के नेतृत्व में खड़े किये गये मोआर (मरंग गोड़ाज़ आर्गेनाइज़ेशन अगेंस्ट रेडिएशन) का ज़िक्र करती हैं, लेकिन मुख्यतः इसलिए कि इससे जुड़े फ़िल्मकार-पत्रकार आदित्यश्री की मरंग गोड़ा रेडिएशन पर केंद्रित फ़िल्म को जापान में आयोजित अंतर्राष्ट्रीय पर्यावरण फ़िल्म फ़ेस्टिवल में शामिल किया जा सके और इस प्रक्रिया में पूरे विश्व-भर में तेज़ी से फैल रही न्यूक्लियर विरोधी आवाज़ों को रिकार्ड किया जा सके। ज़ाहिर है इस शृंखला में उनके लिए यूरोप के ग्रीन मूवमेंट से जुड़े बुद्धिजीवियों की विश्वविख्यात संस्था ग्रीनपीस की उपलब्धियों को गिनाना,[21] 1986 में रूस के यूक्रेन में घटित चेरनोबिल परमाणु संयंत्र दुर्घटना[22] और 2011 में जापान में फुकुशिमा परमाणु संयंत्र दुर्घटना का वर्णन करना सरल हो जाता है। तब किसी भी औसत जिज्ञासु की तरह इन दुर्घटनाओं के आलोक में उन्हें यह सवाल उठाना बेहद ज़रूरी लगता है कि 'जब परमाणु संयंत्र इतने ख़तरनाक़ हैं, तब किसी दुर्घटना की बाट न जोह कर इन्हें बंद क्यों नहीं कर दिया जाता?' ज़ाहिर है इस सवाल के जवाब में खीसें निपोरती विवशता के अलावा कुछ भी हाथ नहीं लगता क्योंकि अपने पूर्वजों की तरह उन्नीसवीं या बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध की शारीरिक श्रम से भरपूर जीवन-शैली अपनाने का विकल्प किसी को भी प्रिय नहीं। सिर्फ़ सूचनाएँ ही नहीं, कंट्रास्ट पद्धति का प्रयोग भी करती हैं महुआ माजी। वे जान चुकी हैं कि 'किसी भी सामान्य व्यक्ति के लिए एक साल में अधिकतम एक मिली सिवर्ट तक ही विकिरण की मात्रा को सुरक्षित सीमा में माना जा सकता है (पृ. 228), लेकिन पाती हैं कि अंतर्राष्ट्रीय सुरक्षा मानकों को धता बता कर गाँव के बिल्कुल पास— 50 फुट से भी कम दूरी पर— टैलिंग डैम बना लिए जाते हैं और इस कचरे में से बीन कर रेडियोएक्टिव पत्थरों को घर की दीवारों पर भी लगा लेते हैं साधनहीन ग़रीब ग्रामवासी।'

मैं पाती हूँ कि इन सूचनाओं ने हिमशिला की तरह मुझे भीतर तक जमा दिया है। एदिता मोरिस के दो लघु उपन्यासों *हिरोशिमा के फूल* और *वियतनाम को प्यार* तथा मृदुला गर्ग की छोटी सी कहानी 'विनाशदूत' पढ़ते हुए भय, आक्रोश, करुणा, निरुपायता के फेनिल ज्वार को घुला-मिला कर संघर्ष

[20] महुआ माजी (2012): 19, 92.

[21] महुआ माजी (2012): 178.

[22] महुआ माजी (2012): 217-219.

और सक्रियता की जिन लहरों को तरंगायित किया था, वे अब सिरे से नदारद हैं। मैं रेडिएशन से विकृत मरंग गोड़ा के स्थानीय लोगों की परिकल्पना करती हूँ, लेकिन ज़ेहन में *वियतनाम को प्यार* का निशीना शिंजो अपनी जानलेवा व्यथा और पैशन के साथ कौंध जाता है। आठ वर्ष की अवस्था में नागासाकी के इस बाशिंदे ने जिस हौलनाक़ अनुभव को तन और चेतना पर झेला है, वहाँ ज़िंदा रहते हुए भी ज़िंदगी से बाहर कर दिये जाने का तल्ख़ अहसास ही उसकी कुल पूँजी है। 'मैं अपने चेहरे तक को हमेशा इतना बायीं ओर मोड़ कर चलता हूँ कि मेरी गर्दन की एक नस ही अकड़ गयी है जो अब ठीक नहीं हो सकती (पृ. 120)।' मैंने लेखिका महुआ माजी के मुँह से सुना है कि बुधनी का दायाँ हाथ-पैर निरंतर लम्बा होता जा रहा है जबकि बायें हाथ-पैर का विकास न के बराबर है। मैंने उन्हें इस बात पर खेद व्यक्त करते भी देखा है कि उंकुरा का आठ वर्षीय सूखा पीड़ित बेटा चेहरे पर बैठी मक्खी तक को उड़ाने में असमर्थ है। लेकिन मैं इन्हें साँस लेते, रोते-खिलखिलाते, अभावों की पोटली में से सपनों की कलियाँ चुनते नहीं देख पाती। मुझे लेखिका की इस बात पर पूरा यक़ीन है कि मरंग गोड़ा की रोगग्रस्त लड़कियाँ नहीं, बल्कि स्वस्थ लड़कियाँ तीन अलग-अलग तरह की त्रासदियाँ झेलती हैं। या तो वे बाँझ बनी रहने के लिए अभिशप्त हैं या विकृत/विकलांग बच्चों को जन्म देने को, या फिर ब्याही ही नहीं जातीं क्योंकि स्वस्थ संतति की कामना हर व्यक्ति का मौलिक अधिकार है। लेकिन ख़बर का चोला परे फेंक कर कोई भी लड़की अपने पूरे चरित्र और व्यक्तित्व के साथ मेरे सामने जीवंत नहीं होती। मैं जब भी ऐसी किसी लड़की की खोज में कल्पना के पंख लगा कर उड़ती हूँ, हिरोशिमा के फूल की ओहात्सू अपने मासूम सौंदर्य, प्यार से पगे सपनों और जटिल मनोविज्ञान के साथ सामने आकर मुझे चौंका देती है। 6 अगस्त 1945! एक ओहात्सू वह है जिसके अवचेतन में दर्ज है यह तारीख़ और साथ ही तीन साल की बच्ची की आँख से देखी गयीं स्मृतियाँ कि ज़िंदा मशाल में तब्दील होकर माँ जान बचाने की ख़ातिर हिरोशिमा नदी में कूद कर जान गँवा बैठी। चेतन स्तर पर हर रोज़ नदी के उसी छोर पर सफ़ेद पैंजी का गुलदस्ता अर्पित कर माँ को श्रद्धांजलि देते हुए वह मानो अपने ज़ख़्मों को हरा रख रही है। यह ओहात्सू गंभीर, भीत, भावुक और आत्मकेंद्रित है। एक ओहात्सू वह है जो जीवन के उल्लास से भरपूर सपनों का इंद्रधनुष आँखों में बसाये है। हर पल आख़िरी पल है, इसीलिए उत्सव और सार्थकता का अनिवार्य पल भी। हिरु उसके सपनों का केंद्र है और बड़ी बहन युका-सान के दो प्यारे-प्यारे बच्चों जैसे अपने बच्चे उन सपनों की मंज़िल। लेकिन लेखिका के तौर पर एदिता मोरिस काष्ठकार नहीं कि कठपुतलियाँ तराश कर संतुष्ट हो जाएँ। प्राण-प्रतिष्ठा किये बिना मनुष्य की रचना सम्भव नहीं। इसलिए इस 'सफ़ेद परी' ओहात्सू के भीतर उठते कितने ही झंझावातों को वे अनमोल निधि की तरह सहेज कर रखती हैं तो कभी धीमे से उन्हें खोल देती हैं। इसलिए हिस्टीरिया के स्तर पर जीती यह लड़की जब चट्टान सी अडोल बन कर प्रेमी की ज़िंदगी से चुपचाप निकल जाती है, तब दुख ज़रूर होता है, आश्चर्य नहीं। उसने प्रयोगशाला में देखा है कि रेडिएशन की शिकार मछली के दो सिर चार आँखें हैं। वह जानती है कि 'विकृतियाँ कई बार एक नस्ल छोड़ जाती हैं। जो आदमी रेडिएट हुआ हो, वह नहीं कह सकता कि उसके नाती-पोते इस मछली की तरह भयानक नहीं लगेंगे (पृ. 90)।'

वह अपने प्यार की गहराई को समझती है तो साथ ही हिरु के माता-पिता की आँखों में उभरे डर के भीतर तैरती मछली को भी देख सकती है। लापता होना उसका पलायन नहीं, भावी पीढ़ी को विकृतिजन्य शारीरिक-मानसिक परिताप से बचाने का संकल्प है। मनुष्यता के पाप का प्रायश्चित्त। महुआ माजी के पास ऐसा एक भी पात्र नहीं जिसके सहारे चार सौ पृष्ठों में फैले इस समाज-वैज्ञानिक शोध को उपन्यास का दर्जा दिया जा सके। ज़ाहिर है साहित्यकार समाज-वैज्ञानिक की तरह तथ्यों को एकत्रित करके और उनका बौद्धिक विश्लेषण कर किन्हीं निष्कर्षों तक पहुँचने की प्रक्रिया को अपना गंतव्य नहीं मान सकता। दरअसल बोध के स्तर पर यह सारी प्रक्रिया उसके भीतर चलती

रहती है जो उसकी संवेदना, दृष्टि, कल्पना और सर्जनात्मकता को भावनात्मक ऊँचाई देकर क़लम के ज़रिये भीतर के लोक को बाहर उतारने की व्याकुलता देती है। क़लम से उसे न तर्क देने हैं, न आप्त वचन। चित्रकार की तरह क़लम को कूची की तरह प्रयुक्त करते हुए जीवन का चित्र चित्रित करना है— किसी एक ख़ास पल, ख़ास जन, ख़ास स्मृति/घटना, ख़ास भू-भाग से जुड़ा गतिशील जीवन-चित्र जिसके भीतर मानस में पलने वाली जटिल मानवीय प्रकृति भी है और बाहरी प्रभावों से मुठभेड़ करती विवेकशीलता भी। पाठक को लेखकीय हस्तक्षेप ज़रा भी पसंद नहीं। न उसकी ओर से की जाने वाली बयानबाज़ी, न तथ्यों-जानकारियों की पोटली। वह सिर्फ़ और सिर्फ़ पात्र को तलाशता है जो अपने निजी वैशिष्ट्य और गंध के साथ उसे भी अपना सहयात्री होने का अहसास दिला कर एकात्म बना सके। इसलिए साहित्य में सामाजिक समस्याएँ अपनी प्रत्यक्षता/लाउडनैस खोकर विडम्बना की कचोट-भरी अनुभूति के रूप में उपस्थित होती हैं। साहित्यकार समाज-वैज्ञानिक की तरह पाठक से उन समस्याओं पर चिंतन-मनन की अपील नहीं करता, शूल की तरह यह आवश्यकता उसके कलेजे में पिरो कर उसकी भावनाओं का उदात्तीकरण करता है। चूँकि साहित्य सेल्फ़ एक्सप्लोरेशन की बीहड़ यात्रा है, इसलिए एक क़ौम, एक प्रजाति, एक मुद्दे पर बात करते हुए भी यह मूलत: एक व्यक्ति-चरित्र की कथा होने का आभास देता है। कहना न होगा कि इस समूची प्रक्रिया में लेखक द्वारा बटोरी गयी तमाम सूचनाओं की ठोस प्रस्तुति बेमानी हो जाती है। अलबत्ता अनुभूति बन कर वे व्यक्ति-चरित्र सपनों, दर्द के रिश्तों और संघर्ष की ज़मीन को रचते हैं। हिंदी में इन दिनों शोध-आधारित लेखन का जादू रचनाकारों के सिर चढ़ कर बोल रहा है, लेकिन तथ्य को कला और कला को उदात्त जीवन बनाने की सर्जनात्मकता उनमें प्राय: नहीं है। संजीव यदि एक बेहतर अपवाद के रूप में याद किये जा सकते हैं तो सर्जनात्मकता के अभाव में अपनी रचनाओं को डाक्यूमेंटरी फ़िल्म में विघटित कर देने की दुर्बलता मधु कांकरिया के उपन्यास *सेज पर संस्कृति* और शरद सिंह के उपन्यास *पिछले पन्ने की औरतें* में ख़ास तौर पर देखी जा सकती है।

मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ उपन्यास लेखिका की प्रिमेच्योर डिलीवरी का नमूना है। 'विकिरण, प्रदूषण और विस्थापन से जूझते आदिवासियों की गाथा' कहने के लिए वे सगेन और आदित्यश्री जैसे प्रवक्ताओं की कल्पना ज़रूर करती हैं,[23] लेकिन उनके व्यक्तित्व को एक विशिष्ट रचाव नहीं दे पातीं। विकिरण-प्रभावित क्षेत्र की फ़िल्म बना कर व्यवस्था, समाज और स्वयं पीड़ितों को जागरूक करने का महत उद्देश्य इन दोनों जुझारुओं का सपना है, लेकिन मिशन को पैशन बना देने वाली इन्टेंसिटी की बजाय एक ख़ास तरह की नि:संगता उन्हें अंत तक 'बाहरी तत्त्व' बनाये रखती है। आदित्यश्री और सगेन की तरह इस्सा और निशीना शिंजो (*वियतनाम को प्यार*) भी फ़िल्में बना कर मानव-निर्मित त्रासदी (एटम बम और नापाम बम से होने वाले भीषण नर-संहार) के पीछे सक्रिय साम्राज्यवादी ताक़तों के निहितार्थों को पूरे विश्व तक सम्प्रेषित कर देना चाहते हैं। यह अपने दर्द को बाँट कर मुक्त होने की युक्ति भी है और दर्द का रिश्ता क़ायम कर विश्व-बंधुत्व का प्रसार करने की कोशिश भी। इस मिशन को पालने के बाद 'बम की संतान' शिंजो एक बार फिर 'ज़िंदा' होने के अहसास से भर कर आठवर्षीय बच्चे की तरह एक टाँग पर कुदक्के मार कर चलने लगता है; नापाम बम की शिकार वियतनाम की लड़की मिस दान थान्ह की यातना में उसे अपना अतीत, वर्तमान, भविष्य सब दिखायी पड़ रहा है। नहीं, एक और शिंजो को ज़िंदा लाश बना कर ज़िंदगी का मख़ौल

[23] झारखंड क्षेत्र के लेखक रणेंद्र, जिन्होंने इसी क्षेत्र की राक्षस जनजाति को केंद्र में रख कर *ग्लोबल गाँव के देवता* उपन्यास भी लिखा है, *मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ* उपन्यास की समीक्षा करते हुए सगेन और आदित्यश्री को आइडेंटिफाई करते हैं. उनके अनुसार जोआर (झारखंडी ऑर्गेनाइजेशन अगेंस्ट रेडिएशन) से जुड़े घनश्याम बिरूली सगेन हैं और फ़िल्मकार श्रीप्रकाश आदित्यश्री हैं. स्वयं महुआ माजी ने स्वीकार किया है कि इन दोनों वास्तविक पात्रों के अतिरिक्त मेधा पाटेकर सुमेधा पाणिकर नाम से उपन्यास में आयी हैं और जेवियर डॉयस जॉन डॉयस के नाम से। देखें, *नया ज्ञानोदय,* जून एवं जुलाई, 2012.

नहीं बनाने देगा वह। मिस दान थान्ह व्यक्ति रूप में एक इकाई है जिसकी यातना के साथ गहरा रिश्ता जोड़ कर उसने अपने भीतर के भावनात्मक शून्य को भर लिया है। दान हर पीड़ित का प्रतिरूप है जिसे बर्बर अमानुषिक इरादों से बचाने के लिए उसे सिर पर क़फ़न बाँध कर निकल पड़ना है। मिस दान थान्ह ने भावनात्मक सुरक्षा देकर उसे मोहग्रस्त किया है, लेकिन प्रतीक दान ने मोह के बंधनों को काट कर अकेले नि:संग भाव से अपने कर्म पथ पर बढ़ते रहने का हौसला भी दिया है। राग और विराग की अंतर्लीन लहरियों में निरंतर अपने को खोजता और माँजता है शिंजो— स्वप्न और संकल्प को संवेदनात्मक अंतर्दृष्टि के सहारे एकमेक कर लेने वाला पैशन! शिंजो की तुलना में सगेन और आदित्यश्री इकहरे पात्र हैं। चूँकि उनका लक्ष्य मुग्ध भाव से लेखिका द्वारा एकत्रित सूचनाओं को यथास्थान प्रत्यारोपित करना है, इसलिए उनके सारे प्रयास पाठक के तईं 'यूरेनियम पर्यटन' से ज़्यादा कुछ नहीं रहते। इसे घनश्याम बिरूली, जेवियर डायस और श्रीप्रकाश जैसे यथार्थ जीवन के सक्रिय कार्यकर्त्ताओं की संघर्षशीलता का अवमूल्यन और विघटन भी कहा जा सकता है। फिर उपन्यास किस मुँह से लार्जर दैन लाइफ़ का दावा कर सकता है?

इस कड़ी में लंदन से रिसर्च करने आयी प्रज्ञा को भी लिया जा सकता है। आदित्यश्री और सगेन आदि के साथ हज़ारों हैक्टेयर में फैले जंगल के एक ख़ास हिस्से का पर्यटन करते हुए सगेन की जुबानी हो आदिवासी जनजाति की सांस्कृतिक विशिष्टताओं से परिचित होने, आदित्यश्री द्वारा बनायी गयी विकिरण-पीड़ितों की फ़िल्में देखने, और सगेन के मोआर की गतिविधियों को जानने के बाद वह स्वयं अपनी आँख से विकिरण पीड़ितों को देखना चाहती है। यह बिंदु सैम-सान (*हिरोशिमा के फूल*) और शिंजो की तरह आत्मविस्तार का बिंदु बन कर प्रज्ञा के चरित्र को औदात्य देने की सम्भावनाओं से भरपूर था, लेकिन लेखकीय कंसर्न का अभाव उसे प्रतिबद्ध सामाजिक कार्यकर्त्ता/मनुष्य का रूप न देकर आत्मरतिग्रस्त स्नॉब के रूप में विघटित कर देता है। प्रमाणस्वरूप उसकी दो प्रतिक्रियाएँ द्रष्टव्य हैं। एक, यूरेनियम-विकिरण प्रभावी क्षेत्र का दौरा (पर्यटन) करते समय सगेन अपने साथियों को बताता है कि उनके पैरों से लिपट कर जो सफ़ेद धूल उनके संग-संग चल रही है, वह दरअसल यूरेनियम कचरा है जो आदिवासियों की ज़िंदगी और साँस में घुल-मिल कर उन्हें निरंतर रेडिएट करता रहता है। पाँच सदस्यों के उस दल में पहली और आख़िरी प्रतिक्रिया प्रज्ञा की है— 'अब क्या होगा? मेरे पास तो एक्स्ट्रा जूते भी नहीं हैं (पृ. 375)।' बेशक यह प्रज्ञा की तात्कालिक प्रतिक्रिया है, लेकिन इसके भीतर पलता भय और रेडिएशन से आत्मरक्षा का भाव उसे अंतत: बाहरी व्यक्ति ही बनाये रखता है। इसलिए शोध के दौरान वह मरंग गोड़ा न रह कर जमशेदपुर रहने और 'पर्सनल कांटैक्ट' के बजाय गौण स्रोतों से जानकारी जुटाने के विकल्प को अपने शोध और स्वास्थ्य दोनों के लिए बेहतर मानती हैं।

दूसरी प्रतिक्रिया मरंग गोड़ा के स्थानीय लोगों से मिलने के बाद की है— 'मामले को जितना गम्भीर समझ कर मैं यहाँ आयी थी, शायद उतना नहीं है। स्वस्थ लोग भी तो हैं यहाँ (पृ. 354)।' ज़ाहिर है तब प्रज्ञा के व्यक्तित्व का जो खाका उभरता है, वह दूसरों की पीड़ा का इस्तेमाल करके अपनी रोटियाँ सेंकने वाले वर्ग की आत्मरतिग्रस्तता का प्रतिनिधित्व करता है। पाठक ऐसे संवेदनहीन पात्र से कैसे तादात्म्य स्थापित करें? वह तो बल्कि उसकी भविष्य की योजनाओं को उससे पहले ही पढ़ लेता है कि इस शोध कार्य के बलबूते विदेश में अच्छी नौकरी का जुगाड़ कर वह पहला मौक़ा मिलते ही यहाँ से भाग खड़ी होगी। इसलिए जब वह आदित्यश्री के सामने चुग्गा फेंकती है तो पाठक को ज़रा भी आश्चर्य नहीं होता— 'लंदन में जाकर साथ रहेंगे हम। तुम चाहो तो शादी भी कर लेंगे।... इस शोध के आधार पर मुझे तो नौकरी मिल ही जाएगी। सोचो श्री सोचो। क्या शानदार ज़िंदगी होगी हमारी (पृ. 393)।'

प्रज्ञा का विलोम रचता है हिरोशिमा के फूल का सैम-सान। पारिवारिक व्यवसाय के सिलसिले में सप्ताह-भर के लिए 'हिरोशिमा आया' यह युवक ओहात्सू के सौंदर्य में बँध कर उनके घर पेइंग

गेस्ट की हैसियत से रुका है, लेकिन ढाँपने की तमाम कोशिशों के बाद भी कोनों-अँतरों से उघड़ पड़ती विकिरण-पीड़ितों की त्रासदी ने उसे बार-बार 1945 में लौटने को बाध्य किया है। 'चौदह साल हो गये हैं उसे (एटम बम को) गिरे, लेकिन उसका काम अभी तक चल रहा है। इस बीच हम ख़ामोश बैठे दूसरे बम के गिरने का इंतज़ार कर रहे हैं। हम जानते हैं कि वह बम हिरोशिमा को तबाह करने वाले बम से हज़ार गुना ज़्यादा शक्तिशाली होगा, लेकिन क्या हमें इसकी परवाह है (पृ. 103)?' साम्राज्यवाद का इतना क्रूर चेहरा! सैम-सान व्यवसायी है, अतः न नीरो का दृष्टांत जानता है, न कालिगुला का मिथक, लेकिन एक अमरीकन की हैसियत से स्वयं को हंता समझते हुए वह भरी-पूरी ज़िंदगी उजाड़ने के अभिशाप से स्वयं को ग्रस्त पाता है। एक तरह से मैं यहाँ हिरोशिमा में आकर बड़ा हुआ हूँ। 'एक तरह से नहीं, बल्कि कई तरह से (पृ. 86)।' जिस अमरीका को ताक़त, समृद्धि और गरिमा का पर्याय मान कर वह आज तक इतराता रहा है, उस विश्वास की बुनियाद क्या इतनी खोखली है? हिरोशिमा यदि अमरीका की विकृत सोच और ख़ूँखार प्रकृति का परिणाम है तो वही उसके पापों का प्रायश्चित्त भी हो सकता है। 'तुम्हारे ज़रिये मैंने हिरोशिमा का अर्थ जाना है। यह वह चीज़ है जिसे ज़्यादा लोग नहीं जानते। मैं कुछ एक लोगों को बताऊँगा। यही कुछ मैं इस समय कर सकता हूँ कि लोगों को बताऊँ।' वह अपने मेज़बान दम्पति को कहता है जो उसकी हर अनुकंपा और आर्थिक सहायता को विनम्रतापूर्वक अस्वीकार करते हुए उसे घर बनाने में मशगूल गिलहर को दाना डालने का निवेदन करता है, बस। सैम-सान जान गया है कि यह दम्पति सैम को इसलिए अपनी पीड़ा की परिधि से बाहर नहीं करना चाहते कि वह अमरीकी है,[24] बल्कि इसलिए कि घावों को दिखा कर दूसरों की दया नहीं पाना चाहते वे। उनमें इतना गहरा आत्मसम्मान है और प्यार बाँटने का इतना औदार्य कि मृत्यु के मुँह में फँस कर शारीरिक रूप से विकृत हुआ फ्यूमियो सौंदर्य और औदात्य का विराट रूपक रचता है। क्या 'हम कठपुतलियों की दुनिया में रहते हैं?' आत्मग्लानि से रुद्ध है सैम। मेज़बान दम्पति के जीवन-सौंदर्य में सन्निहित सत और शिव ने अतिक्रमण के ज़रिये उसका भी उदात्तीकरण कर दिया है— 'मैं जीना चाहता हूँ। मैं युवा हूँ। मुझे कोई बटन दबाने वाला अफ़सर बुहार नहीं सकता।' यह उसका प्रतिरोधात्मक संकल्प है और आत्मविस्तार की सर्जनात्मक भावभूमि भी। ज़ाहिर है प्रज्ञा और सैम-सान, महुआ माजी और एदिता मोरिस एक-दूसरे का विलोम रचते हैं। वस्तुतः यही नीलकंठ की भूमिका भी है— विष के संहारक प्रभावों को स्वयं झेल कर शिवत्व का निरंतर प्रसार। महुआ माजी उपन्यास (क्या इसे डाक्यूमेंटरी फ़िल्म या फ़ीचर रिपोर्ताज कहना बेहतर नहीं होगा?) के शीर्षक में नीलकंठ शब्द शामिल कर भ्रमित बेशक कर दें, लेकिन यह ज़रूर स्वीकारना होगा कि मरंग गोड़ा को 'नीलकंठ' बनाने का प्रयास उनकी ओर से कभी हुआ ही नहीं।

IV

'लो सोनचिड़ी / वायदा हुआ पूरा / रहेगी ज़मीन रहेगा पानी / आसमान/आँगन'[25] बनाम 'औरत हूँ मैं... मैं पालना-पोसना, सहेजना-सँवरना चाहती हूँ। मैं सर्जक होना चाहती हूँ'[26]

पारिस्थितिकीय विमर्श यदि प्रकृति और पर्यावरण के साथ मनुष्य के संतुलित समन्वयात्मक संबंध का नाम है तो इसकी परिधि में जैविक विविधता को बचाने की जद्दोजहद के साथ प्रकृतिरूपा

---

[24] उल्लेखनीय है कि पूरे उपन्यास में मेज़बान युका-सान अमरीकी युवक सैम को साम-सान कह कर ही बुलाती है. यह जापानी शिष्टाचार का नमूना ही नहीं है, बाहरी व्यक्ति को आत्मीय बनाने की सांस्कृतिक विशिष्टता का एक उदाहरण भी है.

[25] अलका सरावगी (2008): 172.

[26] मृदुला गर्ग (1996), *कठगुलाब,* भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली : 104. (लेख के इस भाग में दी गयी पृष्ठ संख्याएँ इसी उपन्यास से).

स्त्री की गरिमा को बचाने की संवेदनात्मक पहल भी शामिल है। स्त्री अमूमन हर देश-काल में तिरस्कृत रही है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था का उदार मुखौटा न्याय की भरसक कोशिशों के बावजूद स्त्री की अस्मिता को पुरुष निरपेक्ष स्वायत्त मानवीय इकाई के रूप में नहीं देख पाता। प्रकृति की भाँति स्त्री में सहने और सृजन करने की अकूत ताक़त है, लेकिन प्रकृति की तरह उसका अत्यधिक दोहन मनुष्य के लिए घातक हो सकता है। मृदुला गर्ग हिंदी की पहली रचनाकार हैं जो पूँजीवादी सभ्यता और पितृसत्तात्मक व्यवस्था के भीतर प्रकृति और स्त्री के साथ पुरुष और समाज के अंत:संबंधों को नये सिरे से जाँचने की आवश्यकता पर बल देती हैं। बेहद सचेष्ट भाव से रचा गया उनका उपन्यास *कठगुलाब* इको-फ़ेमिनिज़म को अपनी दृष्टि से व्याख्यायित करता है। इस प्रक्रिया में मृदुला गर्ग ने कुछेक कथा-युक्तियों का सहारा लिया है। जैसे पात्रों का स्याह और सफ़ेद दो कोटियों में विभाजन; प्रत्येक देश-काल, आयु-वर्ग की स्त्री की अलग-अलग व्यथा-कथा कहते हुए भी यह ध्यान रखना कि अंतिम टेक में वह पुरुष-प्रताड़ना की एक-सी ध्वनि बन जाए; अपनी प्रवक्ता तिरस्कृता स्त्रियों— स्मिता, असीमा, मारियान, नर्मदा— को बाँझ दिखाना; तथा पुरुष को अनिवार्य रूप से खलनायक चित्रित करना, हालाँकि अर्धनारीश्वर की परिकल्पना में वे जिस पुरुष— विपिन को रचती हैं, वह पूरा न सही, आधा-पौना स्त्री तो है ही।[27] वे प्राणप्रण से इस तथ्य को रेखांकित करना चाहती हैं कि स्त्री मूलत: स्रष्टा है और मातृत्व उसकी सार्थकता। लेकिन उनकी मान्यता में मातृत्व को गद्‌गद भाव से महिमामंडित करने वाले परम्परागत भारतीय उच्छ्‌वास नहीं हैं, वरन सृष्टि के क्रम को आगे बढ़ा कर आत्मविस्तार करने और अपनी ग़लतियों से सबक लेते हुए नयी पीढ़ी का बेहतर संस्कार करने की ललक है। सृजन के अर्थ को संतानोत्पत्ति के रूढ़ अर्थ में देखने की हर संकीर्णता का सख़्ती से विरोध करती हैं मृदुला गर्ग। 'संतान पैदा न कर पाने से कोई बंजर नहीं हो जाता। और बहुत कुछ है जिसका सृजन हम कर सकते हैं (पृ. 242)' *कठगुलाब* सृजन की उन सम्भावनाओं की तलाश है जो मारियान के संदर्भ में शब्दों का संसार रच कर मूर्त हुई है;[28] असीमा के संदर्भ में ग़रीब बच्चों को बेहतर शिक्षा-सुविधाएँ उपलब्ध कराने वाले स्कूल खोल कर; दर्ज़िन बीबी के संदर्भ में आत्मदया और अपराधबोध के भय से सिकुड़ी स्त्रियों को आत्मनिर्भरता और आत्माभिमान का पाठ पढ़ा कर; और स्मिता

वे प्राणप्रण से इस तथ्य को रेखांकित करना चाहती हैं कि स्त्री मूलतः स्त्रष्टा है और मातृत्व उसकी सार्थकता। लेकिन उनकी मान्यता में मातृत्व को गद्‌गद भाव से महिमामंडित करने वाले परम्परागत भारतीय उच्छ्‌वास नहीं हैं, वरन सृष्टि के क्रम को आगे बढ़ा कर आत्मविस्तार करने और अपनी ग़लतियों से सबक लेते हुए नयी पीढ़ी का बेहतर संस्कार करने की ललक है।

---

[27] स्वयं विपिन स्वीकार करता है कि मेरा उस अहसास में भागीदारी कर पाना, जो मेरे साथ की स्त्री महसूस कर रही थी, इस बात का सबूत था कि मेरे भीतर नारीसुलभ गुण अन्य पुरुषों की तुलना में अधिक मात्रा में विद्यमान थे. तभी मैं इतना संवेदनशील था कि स्त्री की संवेदनशक्ति को महसूस कर सकता था. वही, पृ. 199.

[28] उल्लेखनीय है कि सभी नारीवादी सिद्धांतकार स्त्रियों द्वारा स्वयं अपना इतिहास लिखने की पैरवी करती हैं ताकि अपने शब्दों के ज़रिये वे अपने मानस में छिपे रहस्यों और आकांक्षाओं, सपनों और यातनाओं के इतिहास को दर्ज कर सकें. वे

के संदर्भ में बंजर को हरियाने का संकल्प बन कर।

मृदुला गर्ग पर टाइप्ड पात्रों को गढ़ने का आरोप आसानी से लगाया जा सकता है क्योंकि उनके स्त्री-पात्र जिस साँचे से तैयार होकर निकले हैं, वह उन्हें 'स्वप्नदर्शिता और भावुकता' से भरपूर बनाता है। यहाँ तक कि पुरुषों को हरामी का ख़िताब देकर कराटे किक के साथ जब-तब ठोंक देने वाली उग्र असीमा बेशक कितने ही दावे क्यों न करे कि 'नारीसुलभ कोमलता और करुणा से' मुक्ति पाकर ही स्त्री जीवित रहते मोक्ष पा सकती है, लेकिन भीतर से बेहद तरल और स्वप्नदर्शी है वह। सिर्फ़ असीमा क्यों, विपिन की मानें तो स्वार्थी से 'स्वार्थी स्त्री के पास निःस्वार्थ प्रेम कर पाने की सामर्थ्य है। ऐसी पूँजी के होते उदात्तीकरण भला क्यों न होगा? भावनाओं का। अनुभूति का (पृ. 200)।' ठीक इसी तरह उनके सभी पुरुष पात्रों का साँचा भी एक ही है जिसे लेखिका ने नाम दिया है— नर सूअर। जिम जारविस हो[29] या इर्विंगश्टिमैन;[30] ग़ैरी कूपर[31] हो या स्मिता का जीजा

पुरुष द्वारा परिभाषित होने की अपेक्षा स्वयं अपने को डिस्कवर करके शब्दों में अपने को परिभाषित करें. हेलन सिसू मानती हैं कि स्त्री-लेखन का कंटेंट ही नहीं, बल्कि अभिव्यक्ति का माध्यम भी अनिवार्य रूप से पुरुष से भिन्न है. इस भिन्नता का पाठ और विश्लेषण बेहद अनिवार्य है, क्योंकि एक ओर यह स्त्री के महत्त्व को एक विशिष्ट जैविक इकाई के रूप में दर्ज करती है तो दूसरी ओर पितृसत्तात्मक व्यवस्था की सांस्कृतिक संरचनाओं और षड्यंत्रों को समझने का अवसर भी देती है.वे लिखती हैं— किसी जनसभा में स्त्री को बोलते हुए सुनो. वह बोलती नहीं, अपने पूरे शरीर को आगे धकेलती है, वह अपने को भूल कर उड़ान भरती है, उसका समग्र उसकी वाणी में समाता है. वह अपने शरीर के द्वारा अपने भाषण के तर्क को जीवंत करती है. एक ख़ास तरीक़े से वह जो कुछ कर रही होती है, उसे लिखती या दर्ज करती है क्योंकि वह बोलते समय अपने आवेगयुक्त और अनचीन्हे प्रवाहों को रोकती नहीं. उसका भाषण जब सैद्धांतिक या राजनीतिक भी होता है, तब भी सरल या एकरेखीय या तटस्थ रूप से सामान्य नहीं होता. वह अपने इतिवृत्त को इतिहास रूप में ढालती है. (*कथादेश,* जुलाई 2012 में प्रकाशित विभास वर्मा का लेख 'मेडुसा की हँसी' पृ. 45). मारियान-इर्विंग प्रकरण की नियोजना के ज़रिये मृदुला गर्ग एलेन सिक्सू की तरह यह मानती प्रतीत होती हैं कि स्त्री की तरल, प्रवाहपूर्ण, विवेकातीत, तर्क-स्वतंत्र, चक्रीय लेखन शैली के समानांतर पुरुष की लेखन-शैली अमूमन तर्काधारित, विवेकाधीन, सोपानिक या अनुक्रमिक और एकरेखीय होती है जो जड़ता और ठस्सपने के साथ-साथ पुरुष-अधिनायकवाद को भी रेखांकित करती है.

[29] मनोविश्लेषक जिम जारविस को मनोरोगी के रूप में चित्रित किया है मृदुला गर्ग ने जो पत्नी स्मिता से चाहता था कि वह प्यार, स्नेह, विश्वास, ज़रूरत, अपनत्व, दोस्ती, संतोष सबको शब्दों में अभिव्यक्त करे. वह नहीं कर पाती तो उसके पास एक ही विकल्प बचता— सेक्स. उसकी हर चुप उससे उसकी देह को भोगने का नया तरीक़ा ईज़ाद करवा देती. पहले से ज़्यादा तिरस्कारपूर्ण, अपमानजनक और अशालीन. (मृदुला गर्ग (1996): 49).

[30] इर्विंग-मारियान प्रकरण प्रसिद्ध कवि फिट्ज़ेराल्ड और जेल्डा फिट्ज़ेराल्ड कथा-प्रकरण की आधुनिक पुनरावृत्ति है जहाँ बौद्धिकता और संवेदना का जीवंत प्रतिरूप बन कर लेखक पति-पत्नी की डायरियों को ज्यों का त्यों उड़ा कर पाठकों की सराहना बटोरता है. उल्लेखनीय है कि पत्नी द्वारा न्याय की गुहार लगाये जाने पर न्याय-व्यवस्था पितृसत्तात्मक चरित्र अपनाते हुए पुरुष के पक्ष में फ़ैसला सुनाती है क्योंकि पुरुष के साझे हितों की रक्षा सामूहिकता में ही सम्भव है. ज़ाहिर है तब सीमोन द बउवार का यह कथन बेहद सटीक हो उठता है कि अब तक औरत के बारे में पुरुष ने जो कुछ भी लिखा, उस पूरे पर शक किया जाना चाहिए क्योंकि लिखने वाला न्यायाधीश और अपराधी दोनों ही है. (सिमोन द बुइवार, अनु. प्रभा खेतान (2001), *स्त्री-उपेक्षिता,* सरस्वती विहार प्रकाशन, दिल्ली : 28).

मृदुला गर्ग ने मारियान को पुरुष के भावनात्मक बलात्कार के शिकार के रूप में चित्रित किया है. जैसे ही यह उपन्यास छप कर आयेगा, हम एक और बच्चा बनायेंगे. ...हमारी चेतना और देह, दोनों के मिलन का चिह्न... फ्लैश ऑफ़ अवर फ्लैश— इर्विंग के इस वादे में चतुर शिकारी की मुस्तैद घात मौजूद है जो उपन्यास के विषय— इमीग्रेंट स्त्रियों का मानस— में स्वयं न उतर पाने की असमर्थता में मारियान द्वारा रची गयी इमीग्रेंट स्त्रियों के मनोलोक को ज्यों का त्यों अपने उपन्यास में उतार लेता है.

[31] गैरी कूपर को चिर युवा या टीन एज पर अटके ऐसे छोकरे के रूप में चित्रित किया गया है जिसका शरीर और दिमाग़ चाहे जितना परिपक्व हो जाए, भावनात्मक आयु वही बनी रहती है. ऐसे लोगों को अपने सिवाय किसी और की इमोशनल ज़रूरत समझ में नहीं आती. ऐसे ही पुरुष को लेकर वर्जीनिया वुल्फ़ ने 'अपना कमरा' में लिखा है कि स्त्री रूपी दर्पण में स्वयं को कई-कई गुणा बढ़ा-चढ़ा कर देखने के बाद ही चैन से जी पाता है पुरुष. (पृ. 45). चूँकि वह जानता है स्त्री उसकी तमाम भौतिक-भावनात्मक ज़रूरतों की पूर्ति का केंद्र है, इसलिए उसका उद्धत अहम सहीन होने की आशंका मात्र में आक्रामक होकर श्रेष्ठ/समर्थ हो जाने का प्रपंच रचता है. मृदुला गर्ग ने विपिन के ज़रिये पुरुष की इस बेचारगी का ख़ूब मखौल उड़ाया है— बेचारा परनिर्भर पंगु पुरुष अपनी अस्मिता सिद्ध करने के लिए इतनी उछलकूद मचाये रखता है. मृदुला गर्ग (1996): 200.

या नर्मदा का जीजा गनपत[32]— मृदुला गर्ग हिकारत के साथ इन पुरुष पात्रों पर थूकते हुए एक बड़ा सवाल उठाती हैं कि प्रताड़ना-लांछना करने वाले पुरुष की अनुकम्पा और साहचर्य ही क्यों चाहती है स्त्री? क्या इसलिए कि वह उसे बच्चा दे सकता है? लेकिन बच्चे पैदा करने के लिए जब स्पर्म बैंक या टेस्ट ट्यूब बेबी जैसे विकल्प मौजूद हों, तब क्या अहमियत रह जाती है स्त्री के जीवन में पुरुष की? ख़ासतौर पर उन आत्माभिमानी आत्मनिर्भर स्त्रियों के लिए जो मानती हैं कि 'ज़िंदगी की असल नेमत है औरत की दोस्ती (पृ. 107)' लेकिन मृदुला गर्ग के भीतर का विवेकशील मनुष्य भीतर की औरत को धकिया कर सवाल पूछता दीखता है कि क्या लैंगिक इकाई में रिड्यूस होकर व्यक्ति अपनी मनुष्यता को अखंड पा सकता है? क्या स्त्री के शोषण के मूल में लैंगिक विभाजन को प्राकृतिक और जायज़ ठहराने वाली राजनीति नहीं है जो एक ओर स्त्रियों में अपने ही शरीर और अस्तित्व के प्रति हिकारत का भाव पोसती है तो दूसरी ओर स्त्री को स्त्री के ख़िलाफ़ खड़ा कर उनकी सर्जनात्मक शक्तियों को नष्ट करती है। इसलिए अकारण नहीं कि मृदुला गर्ग की स्त्रियाँ आत्ममुग्धता से मुक्त[33] हैं और अपराध बोध से भी। वे मानती हैं कि विशिष्ट लैंगिक भूमिकाओं में स्त्री-पुरुष का विभाजन न उन्हें स्वस्थ जैविक इकाई बने रहने देता है, न संवेदनशील-विवेकशील मनुष्य। पुरुष अपनी समग्रता को अधिनायकवाद में केंद्रित कर ले और स्त्री मातृत्व के बहाने प्रजनन की मशीन बन कर रह जाए— जहाँ संबंधों की ऊष्मा से भरा जीवन नहीं, वहाँ यांत्रिकता, विकृति और विघटन ही शेष बचते हैं। दरअसल नीरजा को गढ़ने के मूल में उनकी यही छटपटाहट सक्रिय रही है। बिना विवाह किये अधेड़ विपिन के साथ रह कर उसे बच्चा देने का अनुबंध स्वीकार करती है मेडिकल साइंस की छात्रा नीरजा— बोहेमियन वृत्ति, प्रयोग का कौतुक या संबंधों के पारम्परिक ढाँचे के प्रति अनास्था— कारण जो भी हो। लेकिन ढाई-तीन बरस के साहचर्य के बाद भी संतान न दे पाना, अनेकानेक मेडिकल टेस्टों से गुज़रने के बाद अपनी ही असमर्थता जान कर लगभग विक्षिप्त और हठी हो जाना, मेडिकल विज्ञान की हर सम्भव तकनीक़ का सहारा लेकर अपनी बायलॉजिकल अक्षमता को पलटने का संकल्प...पराभव... टूटन... नीरजा विपिन के साथ संबंध नहीं जीती, चैलेंज के साथ दिन-ब-दिन ख़ुद को छीलती-छलती चलती है। उसकी भरी-पूरी शख़्सियत यंत्र-मानव में तब्दील हो गयी है या फिर गिनी पिग में। मौसम का आह्वान, भावनाओं का ज्वार, मदन गंध से गंधाता विपिन— उसके लिए सब बेमानी हैं। सच और मानीख़ेज़ है तो उस एक पल की प्रतीक्षा जब पोस्ट कोयटल टेस्ट और ओव्यूलेशन टेस्ट की रिपोर्ट यह तस्दीक़ करें कि हाँ, अब इस एक ख़ास पल में वह माँ बन सकती है। उसके लिए विपिन नहीं, विपिन का स्पर्म ज़्यादा ज़रूरी है। लेखिका और विपिन दोनों आतंकित हैं नीरजा के इस विघटन से। 'जब सायास, निर्मम बन कर अपने बारे में बेबाक जानकारी दी जाती है, तब न तिलिस्म बचता है, न साहचर्य पैदा होता है (पृ. 234)।' लेखिका अपनी राय देती हैं तो विपिन असीमा के कंधे पर सिर रख कर रो लेना चाहता है। नहीं, अपेक्षाओं के बावजूद स्त्री-पुरुष संबंध का दारुण अंत इस बिंदु पर नहीं हो सकता। दुख से प्रतिस्थापित होकर मनुष्य अपने संवेगात्मक कोश को दिखाता है, लेकिन तकनीक से प्रत्यारोपित होकर वह संवेगात्मक

---

[32] दो भिन्न वर्गों से संबंध रखने के बावजूद मृदुला गर्ग ने इन दोनों पुरुषों को एक-दूसरे का प्रतिरूप बताया है. दोनों पत्नी पर हिंसा और स्त्रियों के यौन-शोषण को अपना विशेषाधिकार मानते हैं.

[33] यह आत्म-मुग्धता फ़ेमिनिन वाइल्स की जनक है जो पहले स्त्रियों को पुरुष-आखेटक की काम्य भूमिका में उतरने का न्यौता देती है, और फिर उन्हें मुग्धा, पद्मिनी, शंखिनी आदि नायिकाओं की कोटि में विभाजित कर अंततः पुरुष के विलास की सामग्री ही बनाती है. मृदुला गर्ग उपन्यास में वरजीनिया— मारियान की माँ— के रूप में ऐसी ही आत्ममुग्धा स्त्री की रचना करती हैं जो न प्रेम-समर्पण-भावनात्मकता के मूल्य को जानती है, न संवेदनात्मक संवेगों के ज़रिये संबंधों की हार्दिकता को. मृदुला गर्ग आत्ममुग्धता को आत्म-प्रवंचना का पर्याय भी मानती हैं. इसीलिए वरजीनिया किसी दुर्लभ को पाने की तृष्णा में जीवन-भर रंक बनी रहती है.

रिक्ति का ही पर्याय बन जाता है। चयन, वरण, विस्मरण मनुष्य की नेमतें हैं जो यांत्रिकता और जड़ता को छिन्न-भिन्न कर मनुष्य को मनुष्य— निरंतर गतिशील, विकासशील प्राणी— बनाती हैं। इसी मान्यता के कारण विपिन तमाम नैराश्य के बीच भी जीवन के उल्लास को चिह्नित करने में सक्षम है। विपिन को अपना प्रवक्ता बना कर मृदुला गर्ग मानो नीरजा की यांत्रिकताओं को समझा देना चाहती हैं कि 'संयुक्त स्मृति के उन अंशों को जो प्रासंगिक नहीं रहे, हम अस्वीकार नहीं करेंगे तो जड़ हो जाएँगे। सोचने-विचारने, निर्णय लेने लायक नहीं रहेंगे।... यानी मनुष्य ही नहीं रहेंगे। मनुष्य बने रहने के लिए संयुक्त स्मृति को सम्पूर्ण नहीं, चयन करके ग्रहण करना होता है।... तुम अच्छी तरह जानती हो, तुम केवल अंडकोश या गर्भाशय नहीं हो, जो उसके सक्रिय न होने पर तुम बंजर हो जाओगी। यह सारा नाटक तुम मुझे पीड़ा पहुँचाने के लिए करती हो। पर मुझसे ज़्यादा दुख तुम ख़ुद पाती हो। यही होता है। पर-पीड़न की परिणति आत्मपीड़न में ही होती है (पृ. 242)।'

ज़ाहिर है जैव-वैज्ञानिक शोध के सहारे प्रकृति के विधान में हस्तक्षेप करना संजीव की तरह मृदुला गर्ग को भी पसंद नहीं। विज्ञान और पूँजी के गठबंधन ने उन्हें चिंतित ज़रूर किया है, भविष्य के प्रति अनास्थावान नहीं बनाया है। अपने-अपने स्तर पर यथार्थ का अतिक्रमण करते हुए फ़ैंटेसी के सहारे वे एक बेहतर भविष्य की सर्जना करते हैं। उल्लेखनीय है कि बेहतर भविष्य की परिकल्पना के मूल में दोनों के पास अर्धनारीवर का कंसेप्ट है। संजीव की वैज्ञानिक एप्रोच और जानकारी कहीं इस 'अर्धनारीश्वर' को जैव-वैज्ञानिक तथ्यों के रूप में उकेरती है जहाँ मादा क्लाउन मछली के मरते ही सबसे सक्षम नर क्लाउन मछली सेक्स बदल कर मादा और अपनी प्रजाति का मुखिया बन जाता है (*रह गईं दिशाएँ इसी पार*, पृ. 276) तो कहीं समुद्री घोड़े की प्रजनन विशिष्टताओं के आधार पर वे स्त्री-पुरुष के प्रजनन संबंधों में बुनियादी परिवर्तन की फ़ैंटेसी करते हैं— 'यह क्या, इन समुद्री घोड़े महोदय को क्या हुआ।... क्या याचना करने आये हैं अपनी मादा के पास? पुरुष आया है नारी के पास? नहीं, भर्तृहरि आये हैं पत्नी के पास ... भिक्षा? कैसी भिक्षा?... क्या कहा, डिंब? यह कैसा दान है?... और मादा ने दया करके डाल दिया है अपना डिंब पुरुष की झोली में। ... अब वह अपने गर्भ में अपने वीर्य से नि:शेषित कर रहा है डिंब को। मातृत्व की कैसी पावन छाया है पितृत्व पर! उलट गये हैं मातृत्व और पितृत्व के पारम्परिक विधान।... गर्भधारिणी नहीं, गर्भधारक। गर्भवती नहीं, गर्भवान (पृ. 273)।' स्त्री-पुरुष के बीच समन्वयात्मक संबंध की कामना के बावजूद मृदुला गर्ग स्त्री की पूर्णता/श्रेष्ठता को मातृत्व से अलगा कर नहीं देखतीं। स्पीशीज़ के विकासानुक्रम में सेक्स-परिवर्तन या भूमिका-परिवर्तन के उदाहरण एक सत्य हो सकते हैं, लेकिन इंसान के लिए जो प्राकृतिक नहीं, उसका आरोपण या परिकल्पना ही क्यों? औरत होने से उन्हें कोई गुरेज़ नहीं। 'दर्द और पीड़ा से घबरातीं तो मर्द क्या, मशीन न होना चाहतीं (पृ. 107)?'

मृदुला गर्ग का नारीवाद दो अवधारणाओं के खूँटे से बँधा है। एक, दर्ज़िन बीबी का जीवन-दर्शन कि 'हम औरतें हैं। हमें माफ़ करना आना चाहिए।' दूसरा, स्मिता की आकांक्षायुक्त पीड़ा कि अमेरिका-प्रवास के दौरान 'हमेशा कठगुलाब क्यों याद आता रहा मुझे?' ये दोनों अवधारणाएँ— क्षमाशीलता और सौहार्दपूर्ण तरलता— स्त्री की शक्ति और अपेक्षाओं को एक ही प्लेटफ़ार्म पर समझने की संवेदना देती हैं। 'मैं मर्द नहीं सर्जक होना चाहती हूँ' जैसे उद्‌गार में पुरुष को अ-सृजनशील (अ-संवेदनशील) प्राणी बता कर उसकी अधिनायकवादी स्थिति के प्रति स्त्री के असंतोष को ही नहीं रखतीं, बल्कि स्त्री की सम्पूर्णता को कठगुलाब में प्रतीकित कर मनुष्य से प्रकृति की इस अद्‌भुत विशिष्ट संरचना को समझने और संरक्षित करने का आग्रह भी करती हैं। स्त्री गुलाब, नीम का पेड़ या किसी भी सामान्य वनस्पति की तरह फूलने, खिलने और मुरझा जाने की समयबद्ध प्रक्रिया में नहीं बँधी है। कठगुलाब की तरह सृजन की हज़ारों सम्भावनाओं से भर कर वह खिलने को तैयार है, लेकिन समय, समाज और सहचर की संवेदनात्मक तरलता और आत्मीयता का संस्पर्श पाकर ही। हर

प्रकार की दैहिक-भावनात्मक अवमानना उसकी रागात्मकता को अवरुद्ध कर उसे बंजर बना देगी, जैसे पानी की बौछार के बिना मुट्ठी की तरह कसी कलियाँ धीरे-धीरे भूरी से काली पड़ कर नष्ट हो जाती हैं, काठ में तराशे गुलाबों का अकूत सौंदर्य और ख़ज़ाना असंवेदनशील हाथों में नहीं जाने देतीं। बेशक मृदुला गर्ग स्त्री के उत्पीड़न की कथा कहती हैं, लेकिन उसकी यातना को प्रतिशोध या असृजनशीलता में विघटित नहीं करतीं। वे प्रकृति के साथ तादात्मीकृत हो कर स्त्री को भगिनीवाद के सूत्र में बाँध कर अपनी जातीय अस्मिता को पहचानने और बचाने का संकल्प देती हैं। इस प्रक्रिया में यक़ीनन हर क़दम पर उसकी लड़ाई पुरुष की सत्ता और वर्चस्व से है, लेकिन लक्ष्य भी यहीं से होकर गुज़रता है कि अपनी क्षमताओं और संवेदना से पुरुष के अंतर्मन की सूख कर कठोर हुई ज़मीन को सींच कर नम करना, उसे मनुष्य (अर्धनारीश्वर) होने का संस्कार देना। जिस सरलता से तीन साल की मेहनत के बाद गोधड़ के वंथाल क्षेत्र को स्थानीय महिलाओं की मदद से हरिया दिया है स्मिता और असीमा ने, और उस बंजर क्षेत्र के भूतल जल-स्तर को बढ़ा कर पौधों की पच्चीस स्थानीय प्रजातियों के साथ व्यावसायिक लाभ हेतु लहसुन की खेती की जाने लगी है, उस सरलता के साथ पुरुष के भीतर की अधिनायकवादी मानसिकता की कठोर गाँठों को घुला नहीं पायी हैं मृदुला गर्ग। यही नहीं, उनका एकमात्र पुरुष प्रवक्ता— स्त्रीमानस से युक्त विपिन— भी अपनी तमाम कोशिशों के बाद कठगुलाब की तरह सूख गयी स्त्री को तरलता की बौछार से हरिया नहीं पाया है। यह अपनी-अपनी ग्रंथियों से न उबर पाने की पीड़ा है? या पितृसत्तात्मक व्यवस्था की कंडीशनिंग और दबाब जो यथार्थ की दारुण भयावहता के आगे आकांक्षाओं को उड़ान भरने का मौक़ा ही नहीं देते? मृदुला गर्ग का इको-फ़ेमिनिज़म प्रकृति को स्त्री की शरणस्थली भी बनाता है और कर्मस्थली भी, लेकिन पितृसत्तात्मक व्यवस्था के शिकंजे से मनुष्य की मुक्ति का प्रयास नहीं करता। शायद इसलिए कि वे मानती हैं स्त्री और प्रकृति की मुक्ति तब तक सम्भव नहीं जब तक अधिनायकवादी मानसिकता से मुक्त होकर स्वयं पुरुष अपने भीतर के मनुष्य का साक्षात्कार न कर ले। विपिन और स्मिता दोनों को प्रकृतिरूपा यानी सत्य, संवेदनपूर्ण, समर्पित चित्रित करती हैं मृदुला गर्ग। इसलिए दोनों की मुट्ठी में कठगुलाब के बीज हैं— बंजर को हरियाने का सामर्थ्य लेकिन दोनों उन बीजों को मुट्ठी में दबाये अपने-अपने तईं अकेले हैं, रिक्त और अपूर्ण। मृदुला गर्ग इस स्थिति को उपन्यास के केंद्रीय सवाल के रूप में प्रस्तुत करती हैं कि सहचर सहमना न हो तो क्या एक की संवेदनहीनता अनिवार्यत: दूसरे के भीतर जड़ता का प्रसार नहीं करेगी? इको-फ़ेमिनिज़म में प्रकृति और स्त्री[34] को समरूपा मानकर उन्हें पुरुष/वर्चस्ववादी ताक़तों के शोषण के ख़िलाफ़ खड़ा करने की मान्यता को नहीं स्वीकारतीं मृदुला गर्ग। वे स्वीकारती हैं कि प्रकृति बेशक अन्याय का प्रतिकार करने हेतु पूरे समाज और समय से टक्कर ले, स्त्री अपने घावों के साथ-साथ प्रकृति के घावों को सहलाने का बीड़ा भी स्वयं उठाती है। यह मिल-बाँट कर अपने दर्द को कम करने लेने का नुस्ख़ा भी है और अपने ही सहचर या कोख से उत्पन्न संतान की ज़्यादतियों का प्रायश्चित्त भी। लेकिन एक टीस भरी गहरी गूँज के साथ वे पाठकों और समय के लिए इस सवाल को अनुत्तरित छोड़ देती हैं कि स्त्री के घावों पर मरहम लगाने के लिए सहचर पुरुष का संवेदनात्मक हाथ कब आगे आयेगा? स्त्री कभी बंजर नहीं रह सकती, लेकिन यदि उसकी कोख बंजर रह गयी तो इस नुक़सान की क्षतिपूर्ति आख़िर कौन करेगा?

[34] मृदुला गर्ग स्त्री को जैविक इकाई मानते हुए भी पुरुष-प्रकृति से संचालित स्त्री को अपना प्रवक्ता नहीं मानतीं. स्मिता, असीमा, मारियान, दर्ज़िन बीबी या नर्मदा के ज़रिये वे जिस स्त्री की बात करती हैं, वह इसेंशियली अर्धनारीश्वर की परिकल्पना को ही जीती है. इसलिए इन स्त्रियों के समूह में विपिन भी शामिल है.

V

'होना हमेशा दो तरफ़ा होता है मैं / हूँ, इसलिए यह दुनिया है / मेरे होने से ही ये पेड़, पहाड़, नदी /ये चाँद और सितारे हैं / मैं इसमें शामिल भी हूँ /और अलग हूँ'[35]

सवाल! समस्याएँ! चुनौतियाँ! ख़तरे! स्खलन! विचलन!

सृजन की उड़ान भरने से पहले पाँवों में बेड़ियाँ डाल लेने को आतुर रहती हैं ढेर-सी अंतर्निहित दुर्बलताएँ या दुविधाएँ। बहुत आसान होता है नि:संगता का मुखौटा ओढ़ कर 'प्रीच' करना, लेकिन लेखक को तो डूब कर पार उतरना है— अकेले नहीं, अपने समय और समाज के साथ। नैरेटर की भूमिका में भले ही पाठक से मुख़ातिब होता है वह, लेकिन नायक बन कर उसका, वर्तमान और भविष्य का परिसंस्कार करने का दायित्व भी वही निभाता है। इसलिए तमाम आलोचनाओं और असहमतियों के बावजूद मैं नायक को उपन्यास की सफलता की एकमात्र कसौटी मानती हूँ— ऐसा नायक जो सायास गढ़ा हुआ न हो, जीवन की भट्ठी में तप कर ख़ुद ब ख़ुद कुंदन बन चला हो या संजीव के शब्द उधार लूँ तो एक ऐसा पगला यायावर जिसके होने में पूरे ब्रह्माण्ड के होने का रहस्य छिपा हो— 'सारे रिश्तों, नातों, स्थितियों, दिशाओं और काल को पीछे धकेलते हुए जारी है उसका यह सफ़र। तेरह नहीं, तेरह सौ नहीं, तेरह लाख, तेरह करोड़ नहीं, अरबों-खरबों वर्षों का प्रवासी है वह, उसके आनंद, उसके संताप, उसके संघर्ष और उसकी सम्प्राप्ति का वाहक।' (*रह गईं दिशाएँ इसी पार,* पृ. 312) दरअसल नायक लेखक की अंतर्दृष्टि और उपन्यास के क्राफ़्ट की संयुक्त संतान है। इसी नायकविहीनता के कारण *मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ* उपन्यास सोद्देश्यपूर्ण शोधपरक तथ्यात्मक सामग्री के बावजूद औंधे मुँह गिर पड़ता है। वह *मैला आँचल* (फणीश्वरनाथ रेणु) की तरह पूरे आँचल को नायक होने का श्रेय भी नहीं दे सकता क्योंकि आत्मविस्मरण और आत्मदया का शिकार मरंग गोड़ा नामक यह क्षेत्र शोषण और आँसुओं को अपनी नियति मान कर घुटा बैठा है; दिशाओं को हिला देने वाली चीत्कार नहीं बन पाया है। अलका सरावगी *एक ब्रेक के बाद* में ज़रूर नायक गढ़ने की चेष्टा करती हैं, लेकिन उपन्यास के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में गुरु (नायक) को धुर विपरीत दिखाने का कौतुक रचने में ही वे इतनी चुक जाती हैं कि गुरु के साथ बाज़ार के प्रतिरोध की बड़ी लड़ाई लड़ने का धैर्य नहीं रख पातीं। लेखिका भले ही गुरु पर करिश्माई व्यक्तित्व का आरोपण करती रहें, लेकिन के.वी. शंकर अय्यर और अन्य स्त्रियों के सम्पर्क में वह या तो ठस्स है या रसिया। ज़ाहिर है दोनों ही भूमिकाएँ पाठक के साथ उसे तादात्मीकृत नहीं कर पातीं। अलका सरावगी ने गुरु को बड़े-बड़े सपने और दावे दिये हैं, लेकिन लड़ने का एक छोटा-सा अवसर तक नहीं दिया। इसके विपरीत संजीव उन व्यक्तियों और स्थितियों में भी जद्दोजहद की सम्भावनाएँ ढूँढ लेते हैं जहाँ स्वयं पाठक, लेखक और चरित्र को भी अपेक्षा नहीं होती। उदाहरण के लिए बेला जिसे प्रतिकूल परिस्थितियों ने बेशक तिनके की तरह बहा कर नेस्तनाबूद कर देना चाहा हो, लेकिन भीतर की जिजीविषा और स्वप्नशीलता ने उसे हर समंदर तैर कर किनारे आ लगने का जीवट दिया है। मछुआरों और मत्स्य पालन उद्योग के सहकर्मियों को अपने हक़ों के लिए लड़ना सिखाने वाली यह नवयौवना 'एलिस ओशन फूड' जैसी बहुराष्ट्रीय कम्पनी से लोहा लेगी और उसे नाकों चने चबवा देगी, क्या वह स्वयं जानती थी? बेला की रणनीतियाँ ज़मीनी हक़ीक़तों से उपजी हैं, इसलिए वह जानती है कि 'सिर्फ़ ग़ुस्से के दम पर इस अन्याय का ख़ात्मा नहीं किया जा सकता। हमें मुक्ति चाहिए इस दरिद्रता से, बेबसी से, हर घड़ी मुँह बाए चली आ रही असुरक्षा से,... हमें ख़ुद आगे बढ़ कर इसे हासिल करना

[35] संजीव (2011): 290.

है।... जिस तरह पूरे देश के जंगल, पहाड़, नदी और ज़मीन और सम्पदा को छीन कर बेचा जा रहा है, उसी तरह हमारे आठ हज़ार किलोमीटर सागर तट के अधिकारों को हमसे छीन कर बड़ी कम्पनियों को बेच दिया जाएगा। अब भी वक़्त है, आप चेत जाइए (पृ. 195)।' बेला के प्रति संजीव के पूर्वग्रह और मोहग्रस्तता के कारण उसके महत्त्व को लेखक द्वारा गढ़ा गया चरित्र कह कर ख़ारिज किया जा सकता है, लेकिन जिम... ? सुरक्षा, सतर्कता, समृद्धि, विलासिता और निरंकुशता की संतान जिम ने पागलपन की हद तक जाकर विवेकशील तर्काश्रितता के सहारे जीवन-सत्य पाया है; मृत्यु की अँधेरी अतल गहराइयों में डूब कर जीवन के लास्य और मोल को समझा है। अनास्था के सहारे उसने आस्था को अर्जित किया है, विज्ञान और तकनीक़ के सहारे भावनात्मकता की अनंत राशि को। चाक-चौबंद सुरक्षा ने उसके भीतर की असुरक्षा को गहरा कर सुरक्षा के मूल्य को समझाया है तो अपरिभाषित संबंधों में पिसते चले जाने की बाध्यता ने रिश्तों के भीतर छिपे सौंदर्य, सुरक्षा और तरलता को चीन्हने का बोध दिया है। बेशक वह असंवेदनशील वैज्ञानिक है, या इससे भी आगे भावशून्य यत्र-मानव। लारा, कौशल्या, शाहनवाज़ उसके भावहीन क्रूर प्रयोगों की मिसालें हैं; और नौ माह के भ्रूण की हत्या की वीडियो रिकॉर्डिंग अमानुषिकता की नृशंस कथा, लेकिन कौन नहीं जानता कि संज्ञान, आत्मसाक्षात्कार और आत्मोपलब्धि का भासमान आलोक अतल गहराइयों में दबे निबिड़ अँधेरे लोकों में ही विराजता है। 'उस निर्दोष बच्ची (पूर्ण विकसित भ्रूण) की हत्या में मैंने सारे निर्दोषों की हत्याएँ देख लीं और उसकी ख़ामोश चीख़ में सारी अनसुनी चीख़ें सुन लीं।... मैं अपने पिता और चाचा की विरासत नहीं, प्रायश्चित्त हूँ (पृ. 311)।' अतिक्रमण का यह बिंदु जिम को समूची मानवता से जोड़ता है। तब उपन्यास वर्तमान विभीषिकाओं का यथार्थपरक चित्रण न रह कर एक रूपक बन जाता है— आत्मसाक्षात्कार की अंतर्यात्रा पर निकली एक विराट खोज का रूपक। इसी वजह से उपन्यास हाय-हाय करते हुए इस नोट के साथ ख़त्म नहीं होता कि 'यह समय देव मलाई[36] है,' बल्कि क्रंदन करती निष्क्रिय बेचारगी को कस कर तमाचा मारता है कि 'इस समय को आदमख़ोर बनाया किसने?' यह सवाल दूसरों पर उँगली उठाने की प्रक्रिया में अपनी ओर उठी तीन उँगलियों की तीखी चुभन को जीवन का मक़सद बनाने की प्रेरणा भी है। ख़ुदगर्ज़ी और हिंसा को मनुष्य की आदिम प्रवृत्ति कह कर नज़रअंदाज़ भी किया जा सकता है, और इसे कायर मनुष्य के अराजक डर का अक्स कह कर व्यक्ति को नैतिक रूप से बलशाली बनाने का बीड़ा भी उठाया जा सकता है। ज़रूरत है अपने भीतर इतना साहस अर्जित करने का कि प्रचलित मान्यताओं के विपरीत जाकर निशीना शिंजो (वियतनाम को प्यार) की तरह कहा जा सके— 'नागासाकी का रहमदिल मसीहा ग़लत था। इंसान ज़रूर जानते हैं कि वे क्या कर रहे हैं। मैं यह बात बख़ूबी समझ गया हूँ (पृ. 169)।' प्रकृति के साथ सामंजस्य बना कर चलने और प्रकृति की रक्षा के ज़रिये खुद अपनी रक्षा करने के सिद्धांत को सिद्ध करने के लिए संजीव (और अन्य रचनाकार भी) किसी समाज-वैज्ञानिक की तरह सीधे-सीधे सलाह नहीं देते कि अपनी अनंत तृष्णाओं का दमन करके ही ऊर्जा संकट, उपभोक्तावाद, हिंसा और आतंकवाद से मुक्ति पा सकता है मनुष्य; कि निरंकुशता नहीं, सहकारिता के सहारे व्यक्ति-व्यक्ति और व्यक्ति-प्रकृति के बीच संतुलित संबंध स्थापित कर सकता है मनुष्य; कि नयी पारिस्थितिकीय सभ्यता वैज्ञानिक प्रगति या तकनीकी विकास की विरोधी नहीं, बस इनके अंधाधुंध दुष्प्रयोग की विरोधी है; कि उन्नति की वर्टीकल यात्रा उसका लक्ष्य नहीं, सहअस्तित्व और

---

[36] यूनानी मिथक के अनुसार देव मलाई दिन के समय अपने प्रियतम को आकार में छोटा कर बटुए में बंद कर लेती है और रात के समय उसे बड़ा बना कर उसके साथ रतिक्रीड़ा करती है. अगले दिन फिर वही क्रम— सुबह छोटा करके बटुए में बंद करना और रात को बड़ा बना देना. इस खींचतान में एक दिन उसके प्रियतम की मृत्यु हो जाती है और इस प्रकार लुका-छिपी में उसके हाथ कुछ भी नहीं लगता.

बेशक आज का हिंदी उपन्यास अपने परम्परागत स्वरूप को छोड़ कर शोध, आलोचना और पत्रकारिता की खिचड़ी से तैयार समाज-शास्त्रीय अध्ययन की मुद्रा अख़्तियार कर लेना चाहता है, लेकिन नायक के संग-संग उसके अंतर्मन और समय की यात्रा करते हुए जब वह अतिक्रमण की उदात्त छलाँग लगाता है, तब अनायास भावनात्मकता के सहारे अपने सपनों की पोटली खोलने लगता है। ज़ाहिर है सपने न तर्क की कमांड मानते हैं न कार्य-कारण श्रृंखला की अनिवार्यता। वे न सीधे-सपाट एकरेखीय होते हैं, न ठोस और ठस्स।

सौहार्द का क्षैतिज प्रसार उसका संकल्प है। यह सब न कहते हुए भी इससे कहीं ज़्यादा कह जाते हैं संजीव। टेस्ट ट्यूब बेबी जिम उनका नायक है क्योंकि वे मानते हैं कि मनुष्य का प्रवासी स्वभाव दुर्लभ की खोज में अपनी जड़ों से दूर जाने कहाँ-कहाँ भटकता है। लेकिन इस भटकन में न यायावरी है, न फ़कीरी; है तो जय और अधिकार की आदिम लिप्सा जो कभी मूल निवासियों को उनके ही भूखंड से उजाड़ती है तो कभी अपनी संस्कृति का परचम लहरा कर मस्तिष्क को ग़ुलाम बनाने का कुचक्र फैलाती है। दूसरों को छिन्नमूल करने की दुष्टता में स्वयं छिन्नमूल होने की कड़वी प्रतीति भी छिपी है। अधिनायकवादी लिप्सा यह बात नहीं जानती। जानते हैं संजीव और जिम, इसलिए सृष्टि को हरियाने (विकास-क्रम को निरंतर उन्नत बनाये रखने) के लिए वे प्रतिकूलताओं के बीच से अपने लिए जीने के अवसर जुटाती प्रतिरोधात्मक शक्ति को अनिवार्य मानते हैं। यह प्रतिरोधात्मक शक्ति सत्ता संस्थानों, वित्तीय निगमों या वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में बनायी या ख़रीदी नहीं जा सकती; यह हवा-पानी-घास की तरह अनायास बहती-बढ़ती चलती है— मिट्टी के ज़र्रे-ज़र्रे में। जिम की नज़र में उसके पिता, पितामह, प्रपितामह राजस्थान की तंगहाली और विभीषिकाओं से घबरा कर कोलकाता भाग आये भगोड़े हैं जो ताउम्र दुधमुँहे बच्चे की तरह अपनी खुराक़ के लिए दूसरों के हाथ से कौर छीनते रहे हैं। इन भगोड़ों की तुलना में वहीं रह कर अपने और सूखी ज़मीन के लिए पानी का जुगाड़ करतीं अनाम औरतें कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि जल, ज़मीन और जीवन के साथ जुड़ कर वे प्रकृति के संग गलबहियाँ डाले हैं।

बेशक आज का हिंदी उपन्यास अपने परम्परागत स्वरूप को छोड़ कर शोध, आलोचना और पत्रकारिता की खिचड़ी से तैयार समाज-शास्त्रीय अध्ययन की मुद्रा अख़्तियार कर लेना चाहता है, लेकिन नायक के संग-संग उसके अंतर्मन और समय की यात्रा करते हुए जब वह अतिक्रमण की उदात्त छलाँग लगाता है, तब अनायास भावनात्मकता के सहारे अपने सपनों की पोटली खोलने लगता है। ज़ाहिर है सपने न तर्क की कमांड मानते हैं न कार्य-कारण श्रृंखला की अनिवार्यता। वे न सीधे-सपाट एकरेखीय होते हैं, न ठोस और ठस्स। तर्कातीत कल्पनाशीलता से रचे ये सपने जिस चक्रीय लोक की सृष्टि करते हैं, वहाँ पाठक को किरदारों के रूप में अपनी ही अनुकृतियाँ मिलती हैं। उपन्यास यदि शोध-ग्रंथ नहीं, रचना है तो कथारस की ज़मीन पर सपनों के बीज रोपना उसकी मजबूरी है। तब उपन्यास के बुनियादी क्राफ़्ट में परिवर्तन कहाँ? संजीव, मृदुला गर्ग और एक सीमा तक अलका सरावगी यह समझते हैं, इसलिए मनु-श्रद्धा और हज़रत नूह की नाव की स्मृतियों के सहारे पाठक को स्व, मनुष्य, प्रकृति और पर्यावरण से जोड़ते हैं। इन चारों का परस्पर सौहार्दपूर्ण संबंध ही तो पारिस्थितिकीय संकट से जूझने का एकमात्र उपाय है।

संदर्भ

अलका सरावगी (2008), *एक ब्रेक के बाद,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली.

एदिता मोरिस (1984), *हिरोशिमा के फूल,* राजकमल पेपरबैक्स, दिल्ली.

एदिता मोरिस (1984), *वियतनाम को प्यार,* राजकमल पेपरबैक्स, दिल्ली.

कथादेश (जुलाई 2012).

नया ज्ञानोदय (जून एवं जुलाई 2012).

प्रभा खेतान (अनु.) (2001), *स्त्री-उपेक्षिता* (सिमोन द बोइवार की रचना *दि सेकंड सेक्स* का संक्षिप्त अनुवाद), सरस्वती विहार प्रकाशन, दिल्ली.

महुआ माजी (2012), *मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली.

मृदुला गर्ग (1996), *कठगुलाब,* भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली.

संजीव (2011), *रह गईं दिशाएँ इसी पार,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली.

समयांतर (फरवरी 2012).